जैन भारती

वर्ष 54 • अंक 2 • फरवरी, 2006

With best compliments from :

KOTHARI METALS LTD.

website : www.kotharimetal.com

SPECIALISTS IN NON FERROUS METALS

Head Office :

'Lords', 7/1 Lord Sinha Road, 5th Floor

Kolkata 700071

Phone : (033) 22828532/8534/7949 | Fax : (033) 22828462

e-mail : vikashji@cal2.vsnl.net.in

Branches at :

Delhi • Mumbai • Gurgaon • Bhiwadi (Rajasthan)

• Ludhiana (Punjab)

शुभू पटवा
मानद संपादक
●
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 54 ● फरवरी, 2006 ● अंक 2

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
प्राणशक्ति का विकास : एक विवेचन
●
10
अंतरात्मा का स्वीकार : व्यवस्था और अनुशासन
16
डॉ. एस. राधाकृष्णन
भारतीय विचारधारा : एक सिंहावलोकन
19
डॉ. बच्छराज दूगड़
संतुलित विकास : महाप्रज्ञ थीसिस
22
डॉ. राजेंद्रकुमार जैन
उपभोक्तावाद की मुक्ति में है निरापद आर्थिक विकास

●
आवरण
अडिग

अनुभूति

31
साध्वी कनकश्री
संस्कारों के मंत्राक्षर अंकित हैं अंत:करण में
34
रमेश थानवी
मेरा अहिंसक समाज : कुछ बिंब
37
मुनि राकेशकुमार
आध्यात्मिक संगठन और मर्यादा
39
कहानी
अमरकान्त
दोपहर का भोजन
43
सुरेंद्र चोरड़िया
समय ठहरता नहीं
46
कविता
यतीन्द्र मिश्र की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
मर्यादा और मानविकी

शीलन

49
साध्वी ध्रुवरेखा
किन्त्वहं सफलो जातः प्रसीदामि मुहुर्मुहुः
51
मुनि रमेशकुमार
मर्यादा : जीवन-निर्माण का राजपथ
54
बालकथा
आंडाल अनंतनारायणन
गमले में खिला फूल

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर ● फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये ● त्रैवार्षिक 500/- रुपये ● दसवर्षीय 1500/- रुपये

पौषध में प्रतिलेखन क्यों?

पौषध में कोई श्रावक वस्त्र अधिक रखता है, कोई कम रखता है। जो अधिक रखता है, उसके अधिक अव्रत; जो कम रखता है, उसके कम अव्रत। तब कोई प्रश्न करता है—'यदि कोई पौषध में प्रतिलेखन न करे, तो उसे प्रायश्चित क्यों दिया जाए?'

तब स्वामीजी बोले—'पौषध में अप्रतिलेखित (जिन वस्त्रों की प्रतिलेखना न की हो।) वस्त्रों को भोगने का त्याग होता है। उसने प्रतिलेखना नहीं की और उन्हें काम में लेता है, इसलिए उसके त्याग का भंग होता है। उसका प्रायश्चित प्राप्त होता है। पौषध में भी शरीर अव्रत में है। उस शरीर की सुख-सुविधा के लिए वस्त्रों को इधर-उधर करता है, उनका प्रमार्जन करता है, वह सावद्य है।

'पौषध के समय जो वस्त्र अपने पास रखे, उनका न तो प्रतिलेखन करता है और न उन्हें काम में लेता है, तो उसे विशेष कठिनाई को सहनी होती है। उससे पौषध और अधिक पुष्ट होता है। कष्ट सहने की सामर्थ्य नहीं है, इसलिए वस्त्रों का प्रतिलेखन कर उनको काम में लेता है।

'जैसे किसी व्यक्ति को अनछना जल पीने का त्याग है। वह जल को छानता है, पीने के लिए छानता है, दया के लिए नहीं छानता है। यदि वह नहीं छानता है, तो दया और अधिक पुष्ट होती है।'

'वह कैसे?'

'यदि वह नहीं छानता है, तो पी नहीं सकता, क्योंकि उसे अनछना जल पीने का त्याग है। अनछना जल पीने का त्याग है, इसलिए यदि वह जल नहीं छानेगा, तो जल पी नहीं सकेगा। इस दृष्टि से वह जल को छानता है, वह अपनी अव्रत (छूट) का उपभोग करने के लिए छानता है। उसमें धर्म नहीं है।'

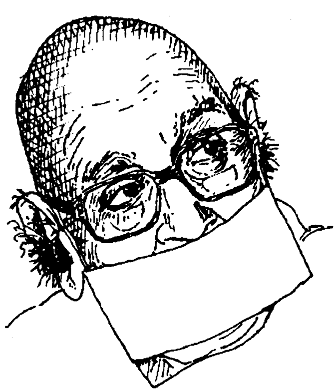

मेरी दृष्टि में नैतिक बनने जितनी आध्यात्मिकता मनुष्य में सहज होती है। आत्मा के अस्तित्व और सब आत्माओं की समता में विश्वास होने से आध्यात्मिक दृष्टिकोण निर्मित हो जाता है। इस दृष्टिकोण के आधार पर ही नैतिकता की आचार-संहिता प्रतिष्ठित होती है।

अध्यात्म का संबंध आंतरिक व्यक्तित्व की विशुद्धि से है। आंतरिक शुद्धि सापेक्ष नहीं होती, क्योंकि अध्यात्म में द्वैत नहीं होता। उससे मन, इंद्रियों और आत्मा का शोधन एक साथ सिद्ध होता है। अध्यात्म के क्षेत्र में गति करने के लिए कोई व्यक्ति नैतिकता का आलंबन लेकर चले और चलते-चलते कहीं स्खलित हो जाए तो भी वह भटक नहीं सकता। सही मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति व्यवहार-शुद्धि के माध्यम से आत्मशुद्धि की उन्नत भूमिका पर आरोहण कर आत्मस्थ बन सकता है। इस संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

—आचार्यश्री तुलसी

भारतीय संस्कृति एक प्राणवान संस्कृति है। यह त्यागमय भावनाओं से अनुप्राणित है। इस उज्ज्वल संस्कृति में तीन धाराओं का मूल्यवान योग रहा है—जैन, बौद्ध और वैदिक।

ये तीनों धाराएं इसी भारत भूमि पर प्रसूत हुईं, पल्लवित व पुष्पित हुईं। इन तीनों ने भारतीय जन-मानस को प्रभावित किया है और उसमें अपना स्थान बनाया है। आज भी भारतीय संस्कृति में त्याग, सहिष्णुता और धैर्य जैसे गुण समाए हुए हैं, जो इन तीनों के मूल में हैं।

जिस प्रकार शिव के नाम पर शैव धर्म, विष्णु के नाम पर वैष्णव धर्म व बुद्ध के नाम पर बौद्ध धर्म प्रचलित हुआ, वैसे ही जिन के नाम पर जैन धर्म प्रचलित हुआ। पर 'जिन' शब्द किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं है। यह तो उस व्यक्ति का संबोधक शब्द है जिसने राग-द्वेष या प्रियता-अप्रियता की स्थिति से अपने-आप को उपरत कर लिया है। जैन धर्म का प्रमुख मंत्र है—नमस्कार महामंत्र। इसमें किसी व्यक्ति-विशेष को नहीं, अपितु आत्म-संपदा से संपन्न सभी विभूतियों को नमस्कार किया गया है। जैन धर्म की यह सुस्पष्ट अवधारणा है कि कोई भी व्यक्ति अपनी आत्मा के उत्कर्ष से महापुरुष बन सकता है, सर्वज्ञ व परमात्मा बन सकता है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

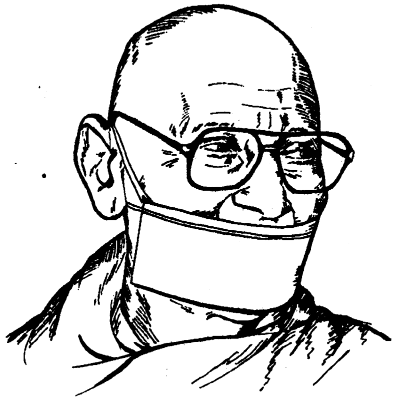

मैं धर्म की उपासना करता हूं पर उसकी नहीं करता, जो मृत है—मैं उसकी उपासना करता हूं जो जीवित है। जीवित वही है जिसका वर्तमान पर अधिकार है। अतीत असत् होता है, इसलिए कि वह अपना कार्य कर चुकता है। भावी इसलिए असत् होता है कि वह कार्यसक्षम नहीं होता। सत् वर्तमान है। उसकी उज्ज्वलता से भूत चमकता है और भावी बनता है।

तुम जीवित रहना चाहते हो तो कोरे अतीत के गीत मत गाओ। कोरी कल्पना की उड़ान मत भरो। आज क्या करना है, इसे सोचो। दो क्षण गहराई से सोचो।

तुम सहिष्णु हो, अनुशासित हो, स्थिरचेता हो, परिवर्तन की मर्यादा को जानते हो तो तुम जीवित हो, तुम्हारा धर्म जीवित है, वर्तमान पर तुम्हारा अधिकार है और तुम्हारा वर्तमान उज्ज्वल है।

अपनी भूलों को देखने, सुनने, स्वीकार करने और उनका परिमार्जन करने में तुम क्षम हो तो तुम जीवित हो, तुम्हारा धर्म जीवित है, वर्तमान पर तुम्हारा अधिकार है और तुम्हारा वर्तमान उज्ज्वल है।

दूसरों की अच्छाइयों को देखने, सुनने, स्वीकार करने और अपनाने में तुम क्षम हो तो तुम जीवित हो, तुम्हारा धर्म जीवित है, वर्तमान पर तुम्हारा अधिकार है और तुम्हारा वर्तमान उज्ज्वल है।

धर्म इसलिए जीवित तत्त्व है कि उसमें वर्तमान उज्ज्वल होता है। वह इसीलिए शाश्वत तत्त्व है कि उसमें वर्तमान सदा उज्ज्वल होता है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

मर्यादा और मानविकी

प्रकृति की संरचना को हम गौर से देखें, हम पाते हैं कि प्रकृति में कुछ भी अमर्यादित नहीं है। सूर्य अपने समय पर उदित होता है और रात होने का समय सूई-भर भी इधर-उधर नहीं होता। समूचा व्योम-मंडल अपने अनुशासन में रहता है और कोई तारा-नक्षत्र किसी तरह की मनमानी नहीं करता। हां, अब अवश्य कहा जाने लगा है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य ने अपनी ओर से छेड़-छाड़ शुरू की, त्यों-त्यों प्रकृति में भी असंतुलन आने लगा और इसका मज़ा भी इस मनुष्य-जीव को जब-तब चखना पड़ जाता है। गरज यह कि इस संपूर्ण प्रकृति में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसे मर्यादा में रखना परम आवश्यक है। वह अमर्यादित हुए बिना नहीं रहता है और जो-जो विषमताएं व्याप्त हैं, कहना चाहिए—ये सब अमर्यादित व्यवहार का ही नतीजा हैं।

तो क्या यह माना जाए कि स्वभावतः ही मनुष्य ऐसा प्राणी है कि उसे मर्यादा में रखा ही नहीं जा सकता? किसी हद तक—और जो-कुछ हम देखते आ रहे हैं—यह माना ही जाएगा कि इस मनुष्य नाम के जीव को मर्यादा में रखना कठिन है और इसीलिए उसके लिए मर्यादा अनिवार्यतः आवश्यक भी है। शायद यही कारण है कि मर्यादाओं का निर्माण इसी के लिए हुआ, होता रहेगा।

मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जिसका समाज बनता है। वह एक सामाजिक प्राणी है, समाज की एक इकाई। अगर समाज न बनता और वह एक इकाई-भर रहता तो शायद मर्यादा की आवश्यकता न होती। इकाई के रूप में वह स्वच्छंद रहे, पर समाज की इकाई के रूप में उसे मर्यादित रहना होगा—इसीलिए मर्यादाओं का निर्माण जरूरी समझा गया। कहा जा सकता है कि समाज का स्वरूप सुगठित बना रहे, इसलिए मर्यादा में रहना, उसका होना आवश्यक है, अनिवार्य है। बिना मर्यादा के समाज टिका नहीं रह सकता। तात्पर्य यह कि समाज के लिए मर्यादाओं का होना, अनुशासनों का होना जरूरी है। हम देख सकते हैं कि जो समाज अपनी मर्यादाओं में रहता है, अपने अनुशासन में रहता है—वह सदा सुदृढ़ व सुस्थाई रहता है। हम एक उदाहरण दे सकते हैं—तेरापंथ समाज का।

एक धर्म-संप्रदाय के रूप में इसे स्थापित हुए 246-247 वर्ष हो गए, इस संगठन ने निरंतर विकास किया है। धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में जहां इस संगठन ने 'मानक' स्थापित किए हैं और अनेक नवाचारों के जरिए धर्मांधता तथा सांप्रदायिक संकीर्णता की चूलें भी हिलाई हैं, वहीं सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर अणुव्रत, जीवन विज्ञान तथा प्रेक्षाध्यान के माध्यम से मानवीय सरोकारों को समझा है, उनको दिशा दी है। ऐसा इसलिए हो सका

कि अपनी स्थापना से ही इस संगठन ने मर्यादाओं का निर्माण किया, सर्वात्मना उनको स्वीकार किया। समय-समय पर उनका परिष्कार-परिमार्जन होता रहा और यह माना जाता रहा कि वक्त की नब्ज को इस समाज ने बारीकी से समझा है।

यही एक संगठन है जो अपनी मर्यादाओं का उत्सव मनाता है। इस बार 4 फरवरी, 2006 को इस संगठन का 142वां मर्यादा महोत्सव है। हर साल होने वाले इस महोत्सव की तिथि माघ शुक्ला सप्तमी 142 वर्षों से तय है। माघ महीने में ही होने के कारण मर्यादा महोत्सव 'माघ महोत्सव' के नाम से भी विख्यात है। इस सालाना महोत्सव के साथ-साथ महीने में दो बार अपनी मर्यादाओं का स्मरण स-पाठ किया जाता है और हर साधु-साध्वी अपना आत्म-निरीक्षण करते हैं कि अपनी मर्यादाओं के अनुरूप उनके आचरण में किसी तरह का स्खलन तो नहीं आया है! कहीं यह प्रतीत नहीं होता कि ये मर्यादाएं जबरन थोपी हुई हैं। सब में यही परिलक्षित होता है कि अपनी मर्यादाओं के प्रति उनका सहज-सरल स्वीकार है। मर्यादाओं के प्रति यह सहज-सरल स्वीकार उनमें आनंद और प्रगति का अनुभव कराता है। मानववादी विचारधारा के प्रखर चिंतक न्यायमूर्ति वी.एम. तारकुंडे भी यह मानते हैं कि—'सामाजिक आनंद और सामाजिक प्रगति का तब तक कोई अर्थ नहीं जब तक समाज को बनाने वाले व्यक्ति आनंद और प्रगति का अनुभव न करें।'

तेरापंथ संगठन को सिरे से देखा जाए तो हम पाएंगे कि इस संगठन के साधु-साध्वी (वे व्यक्ति भी तो हैं) अपनी मर्यादाओं में रहते हुए सदैव आनंद और प्रगति का अनुभव करते हैं। जिस तरह वी.एम. तारकुंडे की यह मान्यता है कि—'व्यक्ति और समाज में प्रधानता व्यक्ति को दी जाती है, क्योंकि व्यक्ति जीवित शरीर वाला प्राणी है, समाज वैसा नहीं है। व्यक्ति में चेतना होती है। उसके मस्तिष्क में ऐसे कोश होते हैं जो विचार और अनुभव को संजोते हैं।' यदि तेरापंथ संगठन के अधिष्ठाताओं की कार्य-प्रणाली को हम देखेंगे तो उनमें यही पाएंगे। हम पाएंगे कि एक इकाई के रूप में तेरापंथ में भी व्यक्ति को प्रधानता दी जाती है—उसकी क्षमता के अनुरूप, उसके व्यक्तित्व के निर्माण की दृष्टि से। इसीलिए इस संगठन की टकसाल में ऐसे व्यक्तित्व निर्मित हो सके जो विरल हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इसकी एक जीवंत मिसाल हैं।

यह होते हुए भी तेरापंथ की मर्यादाओं के बुनियादी पक्षों में किसी तरह का भेद-भाव नहीं होता। दैनंदिन जीवन की जो आधारभूत आवश्यकताएं हैं, उनमें संविभाग एक मूलभूत सिद्धांत है और उसमें हर साधु-साध्वी के साथ एक समान व्यवहार होता है। इस स्तर पर तराजू और बाट एक ही हैं, अलग-अलग नहीं। इसी तरह आचार-व्यवहार के स्तर पर कोई पक्षपात नहीं हो सकता है। साधु-जीवन के लिए पांच महाव्रत आधार-भित्ति हैं—उनकी अनुपालना में छोटे-बड़े का भेद नहीं है। पर, मजेदार बात है कि किसी भी चूक पर जब तक सहज-स्वीकार के भाव प्रकट न हो जाएं, तब तक अनुशास्ता की ओर से किसी भी साधु-साध्वी को किसी तरह का प्रायश्चित्त (दंड) नहीं दिया जाता। चूक पर समझाइश विधि ही अधिक कारगर मानी जाती है।

तेरापंथ संगठन के वर्तमान अनुशास्ता आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इसीलिए आत्मानुशासन पर बल देते हैं। वे आत्मानुशासन के मनोभावों को विकसित करना आवश्यक मानते हैं। वे इसे ही जनतंत्र का मूल आधार मानते हैं। वे कहते हैं—'जनतंत्र का मूल आधार है—स्वतंत्रता, और उसका मूल आधार है—आत्मानुशासन। जब कोई व्यक्ति अपने-आप पर नियंत्रण रख सकता है, तभी वह स्वतंत्रता की लौ प्रज्वलित कर सकता है। अधिनायकता के युग में भय और आतंक का राज्य होता है, इसलिए व्यक्ति के आत्मानुशासन का विशेष मूल्य नहीं होता। जनतंत्र के युग में अभय का राज्य होता है, इसलिए उसमें आत्मानुशासन का मूल्य बढ़ जाता है।' अलबत्ता तेरापंथ संगठन में हम प्रकटतः अधिनायकीय या एकतंत्रीय व्यवस्था को पाते हैं, जबकि उसमें आंतरिक स्वतंत्रता और प्रकारांतर से जनतंत्रीय प्रणाली के दर्शन स्पष्टतः होते हैं। तेरापंथ के प्रवर्तक आचार्यश्री भिक्षु ने जब संघ-विधान (मर्यादाओं) का निर्माण किया, तो तत्समय में उपस्थित साधु-साध्वियों की सहमति से यह हुआ। उस ऐतिहासिक मर्यादा-पत्रक पर उनके हस्ताक्षर मौजूद हैं। तब से अब तक यही प्रणाली विद्यमान है। अतः यह मानना स्वाभाविक है कि आंतरिक स्वतंत्रता ही इस संगठन की बुनियाद है।

तभी तो आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'मैं एक परंपरा का अनुगमन करता हूं, किंतु उसके गतिशील तत्त्वों को स्थितिशील नहीं मानता। मैं शास्त्रों से लाभान्वित होता हूं, किंतु उनका भार ढोने में विश्वास नहीं करता।'

मर्यादा की मानविकी कुछ इसी तरह प्रस्थापित की जा सकती है। हमारे समय की यह महती आवश्यकता है।

—शुभू पटवा

विमर्श

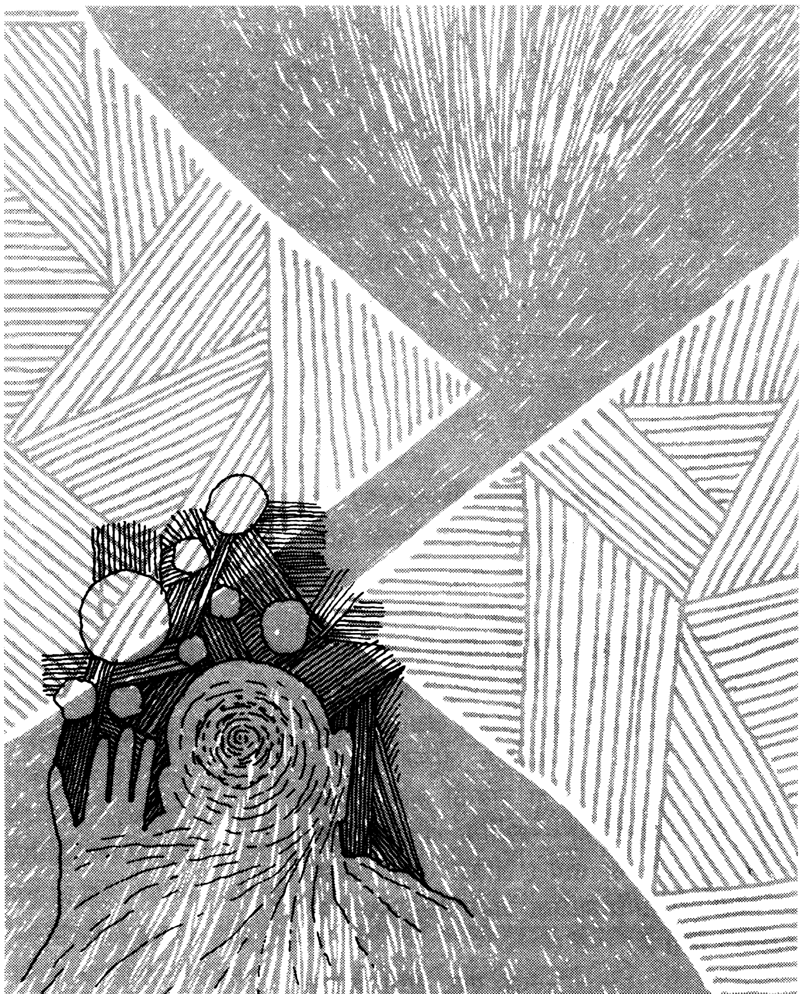

अव्यक्त और व्यक्त के बीच महत् है। और वह महत् एक प्रश्न है कि इस सब-कुछ का यह 'होना' क्या है? 'मैं कौन हूं?'—इतना ही नहीं, 'यह सब-कुछ क्या है?' इतना भी नहीं; **'यह 'होना' क्या है?'**

यह प्रश्न जो-कुछ रचा गया है—जड़ या जंगम—सब को सत्ता के गणित में एक ही समान हर (denominator) पर ले आता है। और उस भिन्न का गणक मनुष्य होता है—जिस की चेतना में ही यह प्रश्न उठ सकता है।

'होना' क्या है यह मेरे मानवीय अस्तित्व की पहली परिभाषा है।

—अज्ञेय

प्राणशक्ति का विकास : एक विवेचन

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

इस जगत में दो प्रकार के तत्त्व हैं—प्राणी और अप्राणी। जिसमें प्राणशक्ति होती है, जीवन-शक्ति होती है, प्राण का स्पंदन और प्रकंपन होता है—वह प्राणी है। जिसमें प्राण का प्रकंपन नहीं है—वह अप्राणी है। हम प्राणी वर्ग में आते हैं। हम सांस लेते हैं। हमारा हृदय धड़कता है। हमारे में प्राण का प्रकंपन होता है। प्राण हमारे जीवन का लक्षण है। जीवन एक बात है, जबकि विज्ञान उसका अगला चरण है। विज्ञान की चेतना को सभी प्राणी उपलब्ध नहीं होते। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जिसे विज्ञान की चेतना उपलब्ध है। पुरानी भाषा में विज्ञान का अर्थ है—विवेक चेतना या अनुभव चेतना। आज की भाषा में विज्ञान का अर्थ है—प्रयोगात्मक चेतना का विकास या परिणामात्मक चेतना का विकास।

विज्ञान हर प्राणी को उपलब्ध नहीं होता, केवल मनुष्य को ही उपलब्ध होता है। हम मनुष्य हैं—यह एक बहुत बड़ा आलंबन है ऊर्ध्वारोहण के लिए, चेतना के विकास के लिए। हमारी दो शक्तियां हैं—एक है प्राण की शक्ति, दूसरी है चेतना की शक्ति। ये दोनों शक्तियां मनुष्य को शेष सब प्राणियों से भिन्न करती हैं। वनस्पति जगत से लेकर पशु-पक्षी जगत तक जितने भी प्राणी हैं, उन सभी प्राणियों से मनुष्य को भिन्न करने वाली शक्ति है—चेतना का विकास, विवेक की शक्ति, अनुभव की शक्ति। मनुष्य ही विवेक कर सकता है और विशिष्ट प्रकार का अनुभव कर सकता है। हम मनुष्य हैं इसलिए चेतना के विकास के अधिकारी हैं।

> *‘हमारे प्राण की अनेक धाराएं हैं, शक्तियां हैं। उनमें चार मुख्य हैं—शरीरबल, भाषाबल, मनोबल और श्वासबल। मनुष्य ने चारों बलों का, चारों शक्तियों का विकास किया है। शरीरबल का विकास उसने किया है। पशु में भी शरीर का बल बहुत होता है, किंतु अपनी-अपनी स्थिति में जितना है, उतना ही रहता है। किंतु, मनुष्य बहुत विकास कर सकता है। दौड़ में बहुत तेज आगे बढ़ सकता है। क्योंकि उसमें विवेक की चेतना और विकास की चेतना है, इसलिए वह हर दिशा में विकास की बात सोचता रहता है। निरंतरता बहुत महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है, बहुत मूल्यवान बात है। कोई व्यक्ति पांच मिनट तक निरंतर श्वास का अनुभव करे और बीच में कोई विकल्प न आए, तो पांच मिनट के बाद ऐसा लगेगा कि शरीर को ‘चार्ज’ कर दिया गया है। बैटरी को इतना ‘चार्ज’ किया गया है कि भीतर से प्रकाश की, प्राण की, ऊर्जा की धाराएं दौड़ने लगी हैं। शक्ति का विस्फोट होने लग गया है।’*

भर्तृहरि ने मनुष्य और पशु के बीच में एक भेद-रेखा खींची। उन्होंने कहा—आहार, नींद, भय और मैथुन—ये चार सामान्य वृत्तियां हैं। ये पशु में भी होती हैं, मनुष्य में भी होती हैं। इनके आधार पर पशु और मनुष्य में कोई भेद नहीं किया जा सकता। उनके बीच कोई भेद-रेखा है तो वह है—धर्म। धर्म के द्वारा पशु और मनुष्य में भेद किया जा सकता है।

शब्द की अपनी शक्ति होती है। शब्द के अर्थ का विकास भी होता है, ह्रास भी होता है। भाषा-विज्ञान के नियम को जानने वाले इस बात को जानते हैं कि शब्द के अर्थ का उपक्रमण और अपक्रमण होता रहता है। अर्थ का परिवर्तन होता है। अर्थ का विकास और ह्रास होता है। आज धर्म शब्द का अर्थ कुछ बदल गया है। आज का आदमी ‘धर्म’ शब्द की भाषा को कम समझने लगा है और यह शब्द कुछ रूढ़ियों के साथ जुड़ गया है। यदि हम नई भाषा में इस पर चिंतन करें तो धर्म के स्थान पर हमें एक दूसरा शब्द खोजना होगा और वह शब्द हो सकता है—‘विज्ञान’। मनुष्य और पशु में जो अंतर है, वह विज्ञान का अंतर है। पशु में विज्ञान नहीं है। विवेक की चेतना नहीं है। मनुष्य में

विज्ञान है, विवेक की चेतना है। यही पशु और मनुष्य में एक मौलिक अंतर है।

पशु प्राणशक्ति का अधिकारी है, उसमें प्राणशक्ति है, पर प्राणशक्ति का विकास वह नहीं कर सकता। आज तक वह नहीं कर पाया। एक पशु हजार वर्ष से बराबर भार ढो रहा है। वह बैलगाड़ी से जुता हुआ है, भार ढो रहा है, किंतु उसकी चेतना में कोई परिवर्तन नहीं आया। न यह प्रश्न उठा कि मुझ पर भार क्यों लादा जा रहा है? न यह प्रश्न उठा कि यह भार छूटना चाहिए। न उसने कोई क्रांति की कि मुझे भार-मुक्ति मिलनी चाहिए। यदि मनुष्य की चेतना पशु में होती और पशु विद्रोह करते, क्रांति करते तो मनुष्य के सामने समस्याएं पैदा हो जातीं। पर बेचारा गाड़ी से जुता बैल आज भी मार खा रहा है और वैसे ही जुता हुआ है, जैसे पुराने जमाने में था। कोल्हू से जुता हुआ बैल आंखों पर पट्टी बांधे हुए वैसे ही चक्कर लगा रहा है जैसे हजार वर्ष पहले लगा रहा था। कोई विकास नहीं हुआ। न चेतना का विकास हुआ और न प्राणशक्ति का विकास हुआ। मनुष्य ने प्राणशक्ति का भी विकास किया और विवेकशक्ति का भी विकास किया। दो शताब्दियों पहले जो चिंतन था, आज वह चिंतन बहुत विकसित हो गया—सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में, आर्थिक समस्याओं के संदर्भ में और चारित्रिक समस्याओं के संदर्भ में। जीवन-प्रणाली और राजनीति के क्षेत्र में मनुष्य का प्रत्येक चरण आगे से आगे विकास करता चला जा रहा है। इसका कारण है कि उसमें विवेक की शक्ति है, विज्ञान की शक्ति है।

जीवन होना बड़ी बात तो है, पर अजीवन से जीवन होना, अप्राणी से प्राणी होना एक विकास है। किंतु, केवल जीवन होना, केवल प्राणी होना उतनी बड़ी उपलब्धि नहीं है, जितनी बड़ी उपलब्धि यह है कि जीवन के साथ-साथ विज्ञान की चेतना का विकास होते जाना। प्राणशक्ति के साथ-साथ चेतना की शक्ति का विकास होना और नए आयामों का उद्घाटन होना, नई दिशाओं का प्रस्फुटन होना—यह बहुत बड़ी बात है। मैं मनुष्य हूं, इसमें ये दोनों बातें समाई हुई हैं। मैं मनुष्य हूं, इसलिए प्राणशक्ति का भी विकास कर सकता हूं, प्राण के नए आयाम प्रस्फुटित हो सकते हैं और चेतना की नई दिशाएं भी उद्घाटित हो सकती हैं।

प्रसंग : मर्यादा महोत्सव

अंतरात्मा का स्वीकार व्यवस्था और अनुशासन

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

मर्यादापत्र का प्रारंभ आचार से होता है। आचार का पहला सूत्र है—'सर्व साधु-साध्विया पाच महाव्रत, पाच समिति और तीन गुप्ति की अखंड आराधना करें।' इस एक पंक्ति में पूरे साधुत्व का वर्णन, निरूपण या चित्रण है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पांच महाव्रत हैं। पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति—कुल मिलाकर ये तेरह होते हैं। कैसा संयोग मिला कि तेरापंथ में भी मूल आचार के तेरह सूत्र ही हैं। जैन परंपरा में श्वेतांबर और दिगंबर—सभी को ये मान्य हैं। पूज्यपाद, जो दिगंबर परंपरा के महान आचार्य हुए हैं, उन्होंने लिखा है—'त्रयोदशतयो धर्मो न दिष्टः परैः।'

भगवान महावीर ने तेरह प्रकार के धर्म बतलाए। भगवान महावीर द्वारा ही यह तेरह प्रकार का धर्म प्ररूपित हुआ। संयोगवश तेरापंथ के रूप में यह आचार्य भिक्षु को मिल गया। पांच महाव्रत तो प्रमुख हैं, पांच समितियां और तीन गुप्तियां भी हमारी साधना के अंग हैं, व्यवहार का संबंध पांच समितियों के साथ ज्यादा है।

इनमें पहली है—**ईर्या समिति**—देखकर चलना। बहुत आवश्यक है देखकर चलना। अहिंसा की दृष्टि से आवश्यक और व्यवहार की दृष्टि से भी आवश्यक।

दूसरी है—**भाषा समिति**। जिसका संबंध परस्पर भी होता है, श्रावक समाज और गृहस्थों से भी होता है। भाषा समिति, अर्थात् कैसे बोलना? सावद्य भाषा न बोलें। भाषा के विषय में विवेक का उल्लेख है। बोलना भी →

हमारे प्राण की अनेक धाराएं हैं, शक्तियां हैं। उनमें चार मुख्य हैं—शरीरबल, भाषाबल, मनोबल और श्वासबल। मनुष्य ने चारों बलों का, चारों शक्तियों का विकास किया है। शरीरबल का विकास उसने किया है। पशु में भी शरीर का बल बहुत होता है, किंतु अपनी-अपनी स्थिति में जितना है, उतना ही रहता है। किंतु, मनुष्य बहुत विकास कर सकता है। दौड़ में बहुत तेज आगे बढ़ सकता है। क्योंकि उसमें विवेक की चेतना और विकास की चेतना है, इसलिए वह हर दिशा में विकास की बात सोचता रहता है। निरंतरता बहुत महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है, बहुत मूल्यवान बात है। कोई व्यक्ति पांच मिनट तक निरंतर श्वास का अनुभव करे और बीच में कोई विकल्प न आए, तो पांच मिनट के बाद ऐसा लगेगा कि शरीर को 'चार्ज' कर दिया गया है। बैटरी को इतना 'चार्ज' किया गया है कि भीतर से प्रकाश की, प्राण की, ऊर्जा की धाराएं दौड़ने लगी हैं। शक्ति का विस्फोट होने लग गया है।

बिंदुपात एक बात है और धारापात दूसरी बात है। बिंदुपात होता है—एक बूंद गिरी, दो मिनट के बाद फिर बूंद गिरी। पहली बूंद सूख जाती है, दूसरी भी सूख जाती है, तीसरी भी सूख जाती है। पृथ्वी के ताप में और रेत में बूंदें सूखती चली जाती हैं। एक होता है धारापात। धारापात का अर्थ होता है—प्रवाह। धारा बहने लग जाती है और नाले का, नदी का बड़ा रूप ले लेती है। बिंदुपात से शक्ति का विकास नहीं होता। शक्ति का विकास धारापात से होता है। बिंदुपात में निरंतरता नहीं होती और धारापात में निरंतरता होती है। बिंदुपात में अंतराल आ जाता है। अंतराल का अर्थ है—काल का व्यवधान। 'कालः पिबति तद्रसं'—काल उसके रस को पी जाता है। जो रस होता था, बीच में अंतराल आ गया और पहले को काल पी गया, दूसरे को भी पी गया। जहां निरंतरता होती है, धारापात होता है, वहां काल उसके रस को पीता नहीं, किंतु आगे बढ़ा देता है।

निरंतरता का बहुत मूल्य है। निरंतर अनुभव करना। जिस व्यक्ति ने श्वास का निरंतर अनुभव करना सीख लिया, उसने शरीरबल, मनोबल और वाक्बल को विकसित करने का एक बहुत बड़ा रहस्य हस्तगत कर लिया।

मनुष्य ही यह विकास कर सकता है। प्राणशक्ति का विकास भी मनुष्य ही कर सकता है। प्राणशक्ति का ऐसा

→

एक कला है। कठोर वचन न बोलें। परुष वचन न बोलें। जो मुनि परुष वचन का प्रयोग करता है, तो वह मासिक प्रायश्चित्त का भागी बनता है। इसलिए कठोर वचन का प्रयोग न परस्पर करें, न दूसरों के लिए करें। हमारा तो यह अनुभव है कि मधुर वचन से जो काम हो सकता है, वह कठोर वचन से कभी नहीं हो सकता। सबके साथ हमारा इतना संबंध बना, उसमें मधुर व्यवहार भी एक प्रमुख कारण बना है। अगर व्यवहार अच्छा न हो, तो दूसरे के मन में एक प्रकार की रूक्षता पैदा होती है। मधुरता के कारण लोग आकृष्ट होते हैं और अपने बन जाते हैं। जो भी बोलना हो, विवेक के साथ बोलें। एक आदेशात्मक भाषा और दूसरी प्रश्नात्मक। जहां तक हो, हमारी भाषा प्रश्नात्मक रहे। जिससे भाषा का संबंध सावद्य के साथ न जुड़े, प्रवृत्ति के साथ न जुड़े। भाषा का विवेक बहुत आवश्यक है।

तीसरी है—**एषणा समिति**। आहार, पानी पूरा जांचकर लें। शुद्ध आहार भी दाता के हठ, मनुहार से लें। आचार्य भिक्षु का यह बहुत बड़ा सूत्र रहा है। जो हमारी विधि है, उसके अनुसार जांच करें। क्यो बना है? किसलिए बना है? कितना बना है? इस प्रकार पूरी एषणा कर ग्रहण करें। पचसूत्रम में कहा गया है—

नाहाराय न पानाय, नाश्रयाय न वाससे।
स्मात्रिः स्वीकृता दीक्षा, न प्रतिष्ठोपलब्धये।।
आत्मोदयाय साधुत्वमस्माभिः स्वीकृतं शुभम्।

साधु क्यो बने हैं? न आहार के लिए, न पानी के लिए, न वस्त्र के लिए, न प्रतिष्ठा के लिए। इन सबके लिए साधु नहीं बने हैं, साधना के लिए बने हैं। इसलिए साधना के अनुरूप ही एषणा की प्रवृत्ति हो। शुद्ध आहार भी लेना है तो दाता का अभिप्राय देखकर लें। यह देखें कि पीछे भी खाने वाले हैं।

श्रावक के व्रत का नाम है—**अतिथि संविभाग**। कम-से-कम संविभाग होना चाहिए, विसविभाग नहीं होना चाहिए। या तो यह हो कि

→

विकास होता है कि शस्त्र का प्रहार हो रहा है, पर कोई असर नहीं हो रहा। देखा गया कि एक भाई ने श्वास भरा, फिर श्वास को रोका और हाथ फैला दिया। दस आदमी उससे लटक गए, पर हाथ टस से मस नहीं हुआ। यह प्राणशक्ति का विकास है। शरीरबल का विकास मनुष्य ही कर सकता है, क्योंकि उसमें विवेक है। शरीरबल के बड़े अद्भुत विकास मनुष्य ने किए हैं। आज भी यह परंपरा लुप्त नहीं है, किंतु उसके प्रति जो महत्त्व का भाव होना चाहिए, जो उसका मूल्यांकन होना चाहिए वह नहीं है। किस प्रक्रिया से शरीरबल को विकसित किया जा सकता है, बढ़ाया जा सकता है—हमारी चेतना शायद इतनी जागरूक नहीं है।

मनोबल का विकास भी बहुत अपेक्षित है। मनोबल हो तो कठिन-से-कठिन समस्या आ जाने पर भी घुटने नहीं टिकते। दूसरी ओर थोड़ी-सी समस्या आई कि आदमी घुटने टेक देता है। इसका कारण है कि मनोबल नहीं है। इतना क्षीण है मनोबल कि सहिष्णुता का भी विकास नहीं है। किसी भी स्थिति में सहने की क्षमता नहीं है। हम जिस दुनिया में जीते हैं, वहां अनुकूलता भी है, प्रतिकूलता भी है। अनुकूलता को सहना भी बड़ा कठिन काम है और प्रतिकूलता को सहना भी कठिन काम है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि प्रतिकूल परिस्थिति की अपेक्षा अनुकूल परिस्थिति को सहना और ज्यादा कठिन काम है। जब मनुष्य के सामने अनुकूलता आती है, तब आवेग बढ़ जाता है, अहंकार बढ़ जाता है। आदमी उसे सहन नहीं कर पाता। बहुत बार ऐसा भी होता है कि एक साथ अधिक अनुकूलता आने पर आदमी अपने-आप को भूल जाता है। कभी-कभी प्राण वियोग भी हो जाता है।

अनुकूलता को सहना बड़ा कठिन होता है। हम लोग द्वेष को तो फिर भी सह लेते हैं, पर राग को नहीं सह पाते। अप्रिय संवेदनों को झेल लेते हैं, पर प्रिय संवेदन को झेलना बहुत कठिन होता है। हमारी शक्ति का ऐसा विकास हो, जिसमें हम अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों को झेल सकें। मनोबल का इतना विकास हो जाए कि अनुकूलता के सामने घुटने न टिकें और प्रतिकूलता के सामने भी घुटने न टिकें। ऐसे मनोबल का विकास हो सकता है। यदि हिंदुस्तान के पास मनोबल नहीं होता तो इतने बड़े साम्राज्य से अशस्त्र होकर लड़ना और शताब्दियों से खोये हुए वैभव को,

---

→

आधा भूखा गृहस्थ रहे, आधा भूखा साधु रहे, तब तो संविभाग होता है। साधु तो पूरा खाए और गृहस्थ भूखा रहे, यह तो विसविभाग हो गया। यह अच्छा नहीं होता। कितना लेना है, इसका विवेक या संविभाग बहुत आवश्यक है। पूरी पूछताछ के बाद, विवेक के साथ यह काम करना जरूरी है। श्रावक को भी यह मोह नहीं होना चाहिए कि इतने 'ठाणे' हैं, कैसे काम चलेगा? हमारे सामने साध्वी दीपांजी का आदर्श है। जयाचार्य को चित्तौड़ में चौमासा कराना था। उस समय चित्तौड़ में श्रावकों के विशेष घर नहीं थे। जयाचार्य ने पूछा—

चातुर्मास चित्तौड़ में, कर सकता है कौन?
प्रश्न आर्य जय ने किया, साधा सबने मौन।

जब जयाचार्य ने प्रश्न किया कि चित्तौड़ में चौमासा कौन कर सकता है? सब मौन हो गए। साफ दिखाई दे रहा था कि चौमासा बहुत कठिन है। आहार-पानी पूरा मिलना मुश्किल है। फिर क्या हुआ?

साध्वी दीपांजी हुई, धर साहस तैयार।
चौमासी तप का सबल, खोज लिया उपचार।।

साध्वी दीपांजी उस समय की प्रमुख साध्वी थीं। उन्होंने साहस के साथ निवेदन किया—'गुरुदेव! हम चित्तौड़ में चातुर्मास करेंगी।' जयाचार्य ने कहा—'कैसे करोगी? आहार-पानी वहां नहीं मिलेगा।'

दीपांजी ने कहा—'गुरुदेव! आप चिंता न करें। हमारे साथ की सहवासिनी चार साध्वियां चौमासी तप के लिए तैयार हैं। आहार की कोई समस्या ही नहीं रहेगी।' हमारे सामने दीपांजी का यह आदर्श है, जो सदा स्मरण रखना चाहिए।

हमें साधना करनी है। आहार-पानी, आवास आदि सब गौण बातें हैं। एषणा समिति के प्रति हमारी जागरूकता रहे और श्रावक समाज की भी जागरूकता रहे। इस संबंध में एक नियम है कि जितना बहराए, उतनी ऊनोदरी करनी चाहिए, उतना सकोच करना चाहिए। यह नहीं कि पूरा बहरा

→

स्वतंत्रता को पुनः प्राप्त कर लेना कोई सामान्य घटना नहीं है, यह विशिष्ट घटना है और केवल मनोबल के आधार पर ही इसमें बहुत बड़ा काम हुआ है। और भी परिस्थितियां हो सकती हैं, पर उन सारी परिस्थितियों में मनोबल का बहुत बड़ा योग है। हम मनोबल का ठीक मूल्यांकन करें।

वाणी का बल भी बड़ा ही अद्‌भुत होता है। हमारी प्राणधारा यदि वाणी के साथ जुड़ जाए और वाणी का बल बढ़े तो एक व्यक्ति के मुंह से निकलने वाली बात विफल नहीं हो सकती! हमारे यहां वचनसिद्धि मानी गई है। वचन की सिद्धि जिस व्यक्ति को होती है, उसके मुंह से जो बात निकल जाती है, वह घटित होती है। यानी पदार्थ-जगत प्रभावित होता है, परमाणुओं में एक हलचल हो जाती है और उन परमाणुओं को बदलना ही पड़ता है और वैसी घटना को घटित होना पड़ता है। यह प्राणशक्ति के विकास के द्वारा ही संभव है। प्राणशक्ति जुड़ जाए तो शरीर का बल कल्पनातीत बढ़ जाता है। प्राण की धारा जुड़ जाए तो वाणी का बल बढ़ जाता है और प्राणशक्ति की धारा जुड़ जाए तो मन का बल भी बढ़ जाता है। प्राण की धारा जुड़ जाए तो श्वास का बल भी बढ़ जाता है। आज तो हमारी स्थिति यह है कि श्वासबल की बात तो दूर रही, श्वास को सम्यक् लेना भी नहीं जानते। सम्यक् श्वास का लक्षण है कि पेट फूलना चाहिए। सीना फूले, यह कोई सम्यक् श्वास का लक्षण नहीं है। सीना तो अपने-आप फूलेगा, किंतु श्वास के कंपन पेट तक जाएं। जो हमारी मांसपेशी है, तनुपट है—वह थोड़ा नीचे जाए और श्वास लेते समय पेट फूले और छोड़ते समय सिकुड़े। जब हम श्वास लेते हैं तब छह-सात लीटर हवा पेट में जाती है। इतनी हवा जाती है और उस हवा का दबाव जब नीचे जाता है तो पेट फूलेगा और छोड़ेंगे तब सिकुड़ेगा। बिलकुल सामान्य-सी बात है। पर सम्यक् श्वास भी हमारे जीवन में नहीं है। जब श्वास सम्यक् नहीं है, श्वास का बल नहीं है, तो ईंधन के बिना चूल्हा प्रज्वलित कैसे होगा? शरीरबल, मनोबल, वाक्‌बल—यह शक्ति का चूल्हा तब जलेगा, जब उसे श्वास का ईंधन मिलेगा। ऑक्सीजन मिलेगी, प्राणवायु प्रज्वलित होगी तब यह चूल्हा जलेगा। मूल बात शरीरबल नहीं है, मूल बात वाणी और मनोबल नहीं हैं। आधारभूत मौलिक बात है—श्वास का बल, सम्यक् श्वास।

श्वास सम्यक् होगा तो शरीर की शक्ति बढ़ जाएगी।

→

भी दिया और पीछे खूब खा भी लिया। पूरा संयम हो। जितना बहराया, उतना संकोच करे, स्वयं न खाएं। यह हुआ दान या अतिथि संविभाग। वस्त्र, पात्र आदि लेने और रखने में तथा पूंजने, परठने में सावधानी बरते।

उत्सर्ग समिति—प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण करते हुए बात न करे—यह आचार का सूत्र है। 1. सर्व साधु-साध्वियां एक आचार्य की आज्ञा में रहे, 2. विहार, चातुर्मास आचार्य की आज्ञा से करे, 3. अपने-अपने शिष्य, शिष्याएं न बनाएं, 4. आचार्य योग्य व्यक्ति को दीक्षित करे। दीक्षित करने पर भी कोई अयोग्य निकले तो उसे गण से अलग कर दें, 5. आचार्य अपने शिष्य या गुरुभाई को अपना उत्तराधिकारी चुनें तो उसे सब साधु-साध्वियां सहर्ष स्वीकार करे।

हमारी ये पांच मौलिक मर्यादाएं हैं। एक प्रश्न है—आज का युग काफी स्वतंत्रता का युग है, ऐसे में किसी के मन में यह बात आ सकती है कि हमारे लिए इतना कठोर अनुशासन क्यों? इतनी मर्यादाएं क्यों? इतनी व्यवस्थाएं क्यों? आचार्य तुलसी ने एक ग्रंथ लिखा—पंचसूत्रम्। साधु-संस्था के लिए या संगठन के लिए, क्योंकि जहां मर्यादा का बंधन नहीं है, वहां समस्याएं बहुत आती हैं। शिष्य ने पूछा—

मुक्तये साधवो जाता, बंधनच्छित्तये प्रभो।
बंधनान्यपि साधुत्वे यदि स्युर्विस्मयो महान्॥

बंधनमुक्ति के लिए हम साधु बने हैं। अब साधु बनने के बाद आपने इतने बंधन लाद दिए? इतनी मर्यादाएं, इतनी व्यवस्थाएं। यह करो, यह मत करो। उस घर से मत लाओ, उस घर में मत जाओ, इतने बंधन क्यों?

आचार्य ने कहा—बोलो, कौन-सा बंधन देखा तुमने यहां? साधु बन गए। धर्मसंघ में आ गए, अब कौन-सी चीज तुम्हें बंधन लग रही है? शिष्य बोला—

अनुशासनमत्रास्ति व्यवस्था चापि विद्यते।
स्वतन्त्रचेतसामेतत् बंधनं स्पष्टमीक्ष्यते॥

→

प्रयोग कर सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं कि किसी भी अवयव को मजबूत करना है, किसी भी अवयव को निरोग करना है, बीमारी को मिटाना है तो दस मिनट का समय लगाएं। निरंतर दीर्घश्वास लें, श्वास का संयम करें और चित्त को उसी अवयव पर टिका दें, जिसे हम निरोग करना चाहते हैं, शक्तिशाली बनाना चाहते हैं। कुछ दिनों बाद आप देखेंगे कि उस अवयव की ताकत बढ़ रही है, शक्ति का विकास हो रहा है और उस अवयव की रुग्ण अवस्था, कमजोरी समाप्त होती जा रही है। एक-दो दिन में चाहेंगे तो बड़ी असंभव बात लगेगी। निरंतर करें, लंबे समय तक करें। आपको निश्चित अनुभव होगा कि परिवर्तन हो रहा है। उसमें श्वास का योग, ईंधन का योग जरूर चाहिए।

श्वास की शक्ति जागे, श्वास का बल बढ़े। दीर्घश्वास का प्रयोग श्वास की शक्ति बढ़ाने का प्रयोग है। जो आदमी छोटा श्वास लेता है वह आदमी श्वास बल को विकसित नहीं कर सकता। यह सम्यक् श्वास नहीं है। कुछ लोग एक मिनट में 22-23 श्वास लेने लग जाते हैं। बहुत छोटा श्वास लेते हैं। गति होनी चाहिए मंद श्वास की दिशा में, हो रही है तीव्र श्वास की दिशा में। श्वास की गति मंद होगी तो श्वास लंबा होता चलेगा, संख्या घटती जाएगी। जैसे-जैसे श्वास की संख्या घटेगी—जीवनशक्ति बढ़ेगी, आदमी दीर्घायु होगा, शरीर की शक्ति बढ़ेगी, प्राण की शक्ति बढ़ेगी। जैसे-जैसे श्वास की संख्या बढ़ेगी आयु कम होगी, शक्ति का खर्च ज्यादा होगा। हम जागते समय जितने श्वास लेते हैं नींद में उससे ज्यादा श्वास लेने लग जाते हैं। जहां जागते समय 15-16 श्वास लेते हैं, वहां नींद में 20-22 श्वास हो जाएंगे। आवेग की स्थिति में श्वास और बढ़ जाते हैं। इसका अर्थ है कि जीवनशक्ति का क्षरण होने लग जाता है। हमारी शक्ति का अतिरिक्त व्यय होने लग जाता है। जो आदमी स्वस्थ जीवन जीना चाहता है, दीर्घायु होना चाहता है, अकाल मृत्यु नहीं चाहता, अपने शक्ति भंडार को जल्दी से खाली करना नहीं चाहता—उसके लिए दीर्घश्वास का प्रयोग सबसे महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान है। यदि दीर्घश्वास का अभ्यास करें, श्वास की संख्या को घटाएं—15 की स्थिति से 10, 8, 7, 5, 2, तक ले जाएं तो अपने-आप श्वास का बल बढ़ेगा, शक्ति का व्यय रुक जाएगा।

हमारे यहां अनेक वैज्ञानिक हुए हैं। उन्होंने बड़ी वैज्ञानिक खोजें कीं। पर इतिहास में उनका उल्लेख नहीं है। प्राचीन भारतीय योगियों ने अद्भुत वैज्ञानिक खोजें की थीं। हमारे नाड़ी-संस्थान में दो प्रकार की प्रणाली है। एक है

→

आप पूछते है कौन-सा बंधन? यहां तो पग-पग पर अनुशासन है। व्यवस्था है, विधि और निषेध है। यह करो, यह मत करो। गोचरी का बंधन। पानी लाने का बंधन। पानी भी लाओ तो उसे इस काम में लो, उस काम में मत लो। आवश्यक हो उतना ही काम में लो, आदि-आदि। बंधन तो सारी बातों में है। स्थान का भी बंधन है। यह नहीं कि जहां इच्छा हुई, वहीं बैठ गए।

शिष्य ने कहा—गुरुदेव! हम स्वतंत्र चेतना वाले हैं, अपनी इच्छा के अनुसार काम करने वाले हैं। जहां चाहें वहां बैठें, जहां चाहें वहां गोचरी के लिए जाएं। यह नहीं कि जहां साधुओं की गोचरी हो, वहां साध्वियां न जाएं। जहां साध्वियों की गोचरी हो, वहां साधु न जाएं। ये सारे बंधन तो साफ दिखाई दे रहे हैं। तब आचार्य ने उत्तर दिया—देखो, तुम इन्हें बंधन मत मानो। अनुशासन बंधन नहीं है। व्यवस्था बंधन नहीं है। यह सब तो बंधन से मुक्त कराने वाले हैं—

जीवनं विद्यते यत्र, मुमुक्षो! सामुदायिकम्।
तत्रानिवार्यतामेति, व्यवस्था चानुशासनम्।

जहां सामुदायिक जीवन है, साथ में रहना है, वहां यह जरूरी हो जाता है। अकेला व्यक्ति है, कोई व्यवस्था की जरूरत नहीं, अनुशासन की जरूरत नहीं। जो चाहे, सो करे। किंतु जहां दो हो गए, वहां व्यवस्था शुरू हो जाएगी। दो हैं, तो फिर व्यवस्था अनिवार्य है। अकेला रह नहीं सकता। अकेला कैसे रहे? अकेला काम नहीं कर सकता। बिना सहयोग के कोई जी नहीं सकता। उपनिषद् में कहा गया—**स एकाकी नैव रेमे**। ब्रह्म का भी अकेले में मन नहीं लगा, तब उसने सोचा—**अहं बहुस्याम्**। मैं बहुत हो जाऊं—यह सोचकर उसने सृष्टि का विस्तार किया। जब ब्रह्म को भी अकेले में रहने में कठिनाई होती है, तो मुनि अकेले कैसे रह सकते हैं? इसलिए सामुदायिक जीवन जीते हैं।

→

'वोलेंटरी' और दूसरी है 'ऑटोनर्वस'—स्वतःचालित और इच्छाचालित। इच्छाचालित नाड़ी-संस्थान के द्वारा शक्ति का व्यय होता है। किंतु स्वतःचालित नाड़ी-संस्थान के द्वारा भी बहुत शक्ति का व्यय होता है। यहां खोज यह हुई थी कि हम स्वतःचालित नाड़ी-संस्थान पर भी नियंत्रण कर सकते हैं। श्वास को रोक सकते हैं और शरीर के तापमान को कम कर सकते हैं। चयापचय की जो क्रिया है, उसको भी हम धीमी कर सकते हैं। हृदय की धड़कन को रोक सकते हैं और कम कर सकते हैं। जितने स्वतःचालित कार्य हैं, उन पर भी नियंत्रण स्थापित कर सकते हैं। उन पर नियंत्रण करने का अर्थ होता है—शक्ति के व्यय को रोक देना।

हम कुछ अतीत में लौटें। वर्तमान में जीना बहुत अच्छा है। वर्तमान का बोध बहुत आवश्यक है, किंतु केवल वर्तमान से ही काम नहीं चलता। ध्यान की प्रक्रिया वर्तमान में जीने की प्रक्रिया है। यह ठीक है कि आदमी जितना वर्तमान में जीएगा, उसकी शक्ति उतनी ही बढ़ेगी। किंतु, केवल वर्तमान से ही तो हमारा काम नहीं चल सकता। कभी अतीत में भी लौटना होता है, भविष्य में भी जाना होता है। हमारा जीवन स्मृति, चिंतन और कल्पना—इन तीनों के आधार पर चलता है। कोरी स्मृति, कोरा चिंतन और कोरी कल्पना काम नहीं देती। स्मृति अतीत में लौटने की प्रक्रिया है। कल्पना भविष्य में जीने की प्रक्रिया है और चिंतन वर्तमान में जीने की प्रक्रिया है। इन तीनों का समन्वय चाहिए। अतीत में लौटने की बात भी सर्वथा व्यर्थ नहीं है। हम अतीत में भी लौटें और ध्यान दें कि किन उपायों के द्वारा हमने शक्ति का विकास किया था।

प्राणशक्ति के विकास पर गौर करें। प्राणशक्ति का विकास तीन धाराओं में चले—शरीर की शक्ति, वाणी की शक्ति और मन की शक्ति। उन तीनों धाराओं को विकसित करने के लिए श्वास का बल बढ़े और श्वासबल को बढ़ाने का उपाय है—दीर्घश्वास का प्रयोग। जैसे-जैसे दीर्घश्वास का अभ्यास बढ़ेगा तो जीवन में एक नई दिशा उद्घाटित होगी। ऐसा करने वाला व्यक्ति केवल बौद्धिक विकास वाला नहीं होगा। बौद्धिक विकास बहुत जरूरी है, पर कोरा बौद्धिक विकास पर्याप्त नहीं है। एक बात से हमारा जीवन कभी परिपूर्ण नहीं होता। समग्रता चाहिए। बौद्धिक विकास की बात बहुत अच्छी है, किंतु उसके साथ-साथ शरीरबल, मनोबल और वचनबल का विकास भी होना चाहिए। उनके विकास का पहला सूत्र है—श्वासबल का विकास और श्वासबल के विकास का पहला सूत्र है—दीर्घश्वास का प्रयोग। ❖

→ परिवार एक सामुदायिक जीवन है। वैसे ही धर्मसंघ भी एक परिवार है, सामुदायिक जीवन है। साथ में रहना, साथ में जीना। बहुत-सारे लोग अनुशासन और व्यवस्था को नहीं जानते। उसका मूल्य नहीं समझते, तो दिन भर लड़ाई-झगड़ा चलता है। जब प्रेम है, सौहार्द है, उस समय व्यवस्था करें। यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रेम भी व्यवस्था के साथ ही रह सकता है, अन्यथा रह नहीं सकता। जहां व्यवस्था नहीं है, वहां विसंविभाग-सा लगता है।

व्यवस्था और अनुशासन सामुदायिक जीवन के लिए अनिवार्य है। सामुदायिकता एक बड़ी शक्ति है। जहां समुदाय है, अनेक लोगों का साथ में रहना है, वहां व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए। व्यवस्था और अनुशासन बहुत आवश्यक है। इसलिए सब साधु-साध्वियां व्यवस्था का सम्मान करें। आज्ञा और अनुशासन का सम्मान करें और यह माने कि यह हमारे कल्याण के लिए है, बंधन के लिए नहीं। इसका महत्त्व आंकें, सम्मान करें, तो बहुत अच्छा काम चल सकता है। साधु-साध्वियों में संविभाग की जैसी व्यवस्था है, श्रावक समाज में, परिवारों में भी ऐसी ही व्यवस्था और अनुशासन हो तो परिवार बहुत सुचारु रूप से चलेगा, प्रगति करेगा। संयुक्त परिवार के लिए यह एक बहुत बड़ा सूत्र है। इस व्यवस्था से उनका विघटन रुक सकता है। विघटन आखिर होता क्यों है? अनुशासन और व्यवस्था के अभाव में ही होता है।

आचार्य भिक्षु ने महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन दिया था, अनुशासन का और उसके साथ विनम्रता और व्यवस्था का। हर चतुर्दशी के दिन हम इसे विशेष रूप से याद करें, स्मृति में लाएं और इसके प्रति हमारा समर्पण हो जाए।

हम तेरापंथ की व्यवस्था और अनुशासन को अक्षुण्ण रखें। हम इस संघ में दीक्षित हैं। इस व्यवस्था और अनुशासन से हमें बहुत लाभ हो रहा है, बहुत विकास हो रहा है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर अनुशासन को, केवल बाहर से नहीं, अपनी अंतरात्मा से स्वीकार करें कि हमें व्यवस्था में रहना है, मर्यादा में रहना है। ●

भारतीय विचारधारा : एक सिंहावलोकन

❑ डॉ. एस. राधाकृष्णन ❑

भारतीय विचार के निरंतर विकास को विभिन्न लोगों ने विभिन्न समयों में अपनी-अपनी भेंट अर्पित की है। फिर भी उन सब पर भारतीय आत्मा के बल की छाप तो स्पष्ट दिखाई देती ही है। इस विकास की ठीक-ठीक क्रमबद्धता के विषय में यद्यपि हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते, फिर भी हमें भारतीय विचार को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने का प्रयत्न करना चाहिए। विशेष संप्रदायों के सिद्धांत अपनी-अपनी परिस्थितियों की अपेक्षा रखते हैं और इसलिए उनका निरीक्षण उनके साथ ही करना उचित होगा, अन्यथा हमारे लिए उनके अंदर किसी प्रकार का जीवित आशय खोजना कठिन होगा और वह एक प्रकार की मृतप्राय परंपरा मात्र ही सिद्ध होगी।

दर्शनशास्त्र की प्रत्येक पद्धति अपने समय के महत्त्वपूर्ण प्रश्न का एक निश्चयात्मक उत्तर है और इसलिए जब उस पर उसी दृष्टिकोण से विचार किया जाएगा, तभी प्रतीत होगा कि उसमें सत्य की कुछ मात्रा अवश्य है। दार्शनिक तत्त्व निश्चयात्मक अथवा भ्रमात्मक स्थापनाओं के पुंजमात्र नहीं हैं, अपितु एक विचारधारा की अभिव्यक्ति एवं विकास के रूप में हैं, जिनके साथ और जिनके बीच हमें अवश्य तादात्म्य प्राप्त करना चाहिए, यदि हम जानना चाहते हैं कि उक्त पद्धतियों ने अमुक रूप किस प्रकार और क्यों धारण किया। दर्शनशास्त्र का इतिहास के साथ एवं बौद्धिक जीवन का सामाजिक अवस्थाओं के साथ जो पारंपरिक संबंध है, उसका ज्ञान हमें अवश्य होना चाहिए। ऐतिहासिक विधान के अनुसार संप्रदायों के परस्पर विरोध में किसी एक का पक्ष लेना अनुचित है, बल्कि नितांत निष्पक्ष भाव से विकास का अनुसरण करना चाहिए।

‘ *दार्शनिक तत्त्व निश्चयात्मक अथवा भ्रमात्मक स्थापनाओं के पुंजमात्र नहीं हैं, अपितु एक विचारधारा की अभिव्यक्ति एवं विकास के रूप में हैं, जिनके साथ और जिनके बीच हमें अवश्य तादात्म्य प्राप्त करना चाहिए, यदि हम जानना चाहते हैं कि उक्त पद्धतियों ने अमुक रूप किस प्रकार और क्यों धारण किया। दर्शनशास्त्र का इतिहास के साथ एवं बौद्धिक जीवन का सामाजिक अवस्थाओं के साथ जो पारंपरिक संबंध है, उसका ज्ञान हमें अवश्य होना चाहिए। ऐतिहासिक विधान के अनुसार संप्रदायों के परस्पर विरोध में किसी एक का पक्ष लेना अनुचित है, बल्कि नितांत निष्पक्ष भाव से विकास का अनुसरण करना चाहिए।* ’

ऐतिहासिक दृष्टि से उक्त विधि की परम आवश्यकता का महत्त्व समझते हुए भी हमें दुख से कहना पड़ता है कि प्राचीन लेखों में काल और तिथियों का सर्वथा अभाव रहने के कारण हम उक्त पद्धतियों के निर्माण का ठीक-ठीक काल-निर्णय करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। प्राचीन भारतीयों का स्वभाव इतना अनैतिहासिक अथवा संभवतः इतना दार्शनिक ज्ञानातीत था कि हम दार्शनिकों की अपेक्षा दर्शन-पद्धतियों के विषय में अधिक जानते हैं। बुद्ध के जन्म के समय से भारतीय कालक्रम-विज्ञान अधिक अच्छी स्थिति में आ गया। बौद्धमत के अभ्युदय के काल में ही फारस की शक्ति का विस्तार एकिमेनिडी राजवंश के शासन के अंतर्गत बढ़ते-बढ़ते सिंधु नदी तक पहुंच गया था। कहा जाता है कि पश्चिम में भारत विषयक ज्ञान इसी समय हेकाटियस और हेरोडोटस द्वारा पहुंचाया गया।

भारतीय दर्शनशास्त्र के मुख्य विभाग निम्नलिखित हैं—

(1) वैदिक काल (1500 ई.

पूर्व से 600 ई. पूर्व तक) वह समय है जबकि भारत में आर्य लोगों ने अपने आवास स्थानों का निर्माण किया और उसके साथ-साथ इस देश में आर्य-संस्कृति व सभ्यता का धीरे-धीरे विस्तार और प्रसार हुआ। यह वह समय है जिसमें वनों में विश्वविद्यालयों का अभ्युदय हुआ। और इन विश्वविद्यालयों से भारत के उच्च आदर्शवाद का प्रादुर्भाव हुआ। इस काल में हम विचार के बदलते हुए स्तर को स्पष्ट भेद के कारण देख सकते हैं, जो मंत्रों अथवा सूक्तों एवं ब्राह्मणों और उपनिषदों के रूप में प्रकट हुआ। इस युग के विचार यथार्थ रूप में दार्शनिक नहीं हैं। यह अंधकार में टटोलने का काल है, जहां मिथ्या विश्वास और विचार में अब भी परस्पर भेद और द्वंद्व विद्यमान था। फिर भी, विषय को एक व्यवस्था में रखने और उसे सिलसिला देने के विचार से यह हमारे लिए आवश्यक हो जाता है कि हम ऋग्वेद के सूक्तों के दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए उपनिषदों के मत का भी प्रतिपादन करें।

(2) महाकाव्यकाल (600 ई.पू. से 200 ई. पश्चात्) का विस्तार उपनिषदों और दर्शनशास्त्रों के विकासकाल तक है। रामायण और महाभारत के महाकाव्य मानव में निहित एक नवीन वीरत्व एवं देवत्व के संदेश को फैलाने का माध्यम सिद्ध हुए। इस काल में उपनिषदों के विचारों का प्रजातंत्रीकरण होकर बौद्धधर्म एवं भगवद्गीता में उनका संक्रमित होना पाया जाता है। बौद्धधर्म, जैनमत, शैवमत एवं वैष्णवमत की पद्धतियां—सब इसी काल की हैं। अमूर्त विचारों का विकास भी, जो भारतीय दर्शन के भिन्न-भिन्न संप्रदायों में परिणत हुआ, इसी काल की देन है। बहुत-से दर्शनों का प्रारंभकाल बौद्धधर्म के अभ्युदयकाल के साथ-साथ है और वे अनेक शताब्दियों तक साथ-साथ विकसित होते रहे, फिर भी उन संप्रदायों के क्रमबद्ध ग्रंथों का निर्माण-काल बाद का है।

(3) सूत्रकाल (200 ई.) उसके बाद आता है। सामग्री का पुंज बढ़कर इतना अधिक स्थूल हो गया कि दर्शनों के ज्ञान को सूक्ष्म रूप में उपस्थित करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी। इस न्यूनीकरण एवं समवायीकरण ने सूत्रों का रूप धारण किया। ये सूत्र बिना उनकी टीकाओं की सहायता के समझ में नहीं आ सकते, यहां तक कि टीकाओं का महत्त्व स्वयं सूत्रों से भी अधिक बढ़ गया। यहां हमें दार्शनिक क्षेत्र में समीक्षात्मक प्रवृत्ति विकसित होती दिखाई देती है। इसमें संदेह नहीं कि इससे पूर्ववर्ती कालों में हमें दार्शनिक वाद-विवाद मिलते हैं, जहां मन से जो-कुछ उसे बताया गया, उसे निष्क्रियभाव से स्वीकार नहीं किया, बल्कि स्वयं भी विषय पर आक्षेप उठाकर और उनका उत्तर देते हुए उनका विवेचन किया। अपने आत्मिक ज्ञान द्वारा विचारकों ने कुछ ऐसे सामान्य सिद्धांत स्थिर किए जो उनकी दृष्टि में विश्व के समस्त रूपों की व्याख्या करते हुए प्रतीत हुए। दार्शनिक संश्लेषण चाहे कितने ही पूर्ण और तीक्ष्ण क्यों न हों, पूर्वविवेचना-रहित होने के कारण, कांट की परिभाषा में, बराबर दोषपूर्ण रहे हैं। दार्शनिक समस्याओं के समाधान की शक्ति मनुष्य के अंदर कितनी है, इस विषय की पहले से विवेचना किए बिना मानव ने जगत को देखा और परिणामों पर पहुंच गया। प्रारंभिक प्रयत्न जगत को समझने और उसकी व्याख्या करने के विषय में यथार्थ में दार्शनिक प्रयत्न नहीं थे, क्योंकि मानव-मस्तिष्क की योग्यता के विषय में किसी ने इस प्रकार की आशंका नहीं की कि उसके लिए जिन साधनों का प्रयोग किया गया, उसमें कार्य-क्षमता थी या नहीं, या जिस मानदंड का प्रयोग किया गया, वह भी ठीक था या नहीं इत्यादि। जैसा कि केयर्ड ने लिखा है कि मन 'उस समय पदार्थ को ध्यान से देखने में अत्यंत व्यग्र' था।[1] इसलिए जब हम सूत्रकाल में आते हैं तो उस समय में केवल रचनात्मक कल्पना और धार्मिक स्वातंत्र्य ही नहीं, विचार एवं चिंतन को भी अधिक स्वयंचेतनरूप में पाते हैं। दर्शनशास्त्रों के संबंध में भी हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि इनमें से कौन प्राचीन हैं और कौन अर्वाचीन। इस विषय में बराबर विरोधी उद्धरण मिलते हैं। योगदर्शन सांख्य की सत्ता स्वीकार करता है, वैशेषिक न्याय और सांख्य, दोनों की सत्ता को स्वीकार करता है, न्याय में वेदांत और सांख्य का विवरण पाया जाता है, मीमांसा प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में अन्य सब दर्शनों के पूर्व-अस्तित्व का पता देती है, और इसी प्रकार वेदांत में भी अन्य सब दर्शनों का हवाला आता है। प्रोफेसर गार्ब का मत है कि सांख्य सबसे पुराना संप्रदाय है। उसके पश्चात् योगदर्शन आया, इसके पश्चात् मीमांसा और वेदांत और सबसे अंत में वैशेषिक और न्याय। सूत्रकाल और टीकाकारों के पांडित्य-प्रदर्शन काल के बीच कोई विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। ये दोनों काल आज दिन तक विस्तृत हैं।

(4) टीकाकाल भी ईसा के पश्चात् दूसरी शताब्दी से आरंभ होता है। इस काल और इससे पूर्व के काल के बीच में कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। फिर भी इसी काल में हमें बड़े-बड़े विचारकों, यथा कुमारिल, शंकर, श्रीधर, रामानुज, माध्व, वाचस्पति, उदयन, भास्कर, जयंत, विज्ञानभिक्षु और रघुनाथ आदि का नाम सुनाई देता है। उक्त काल का साहित्य शीघ्र ही शास्त्रार्थों और विवादों में ग्रस्त हो जाता है। हमें इस काल में तार्किकों का एक जत्था मिलता है, कोलाहलपूर्ण वाद-विवाद में रत, अत्यंत सूक्ष्म सिद्धांतों में लिप्त और युक्ति व प्रमाणों का सूक्ष्म तानाबाना बनाने वाले तार्किक, जो सामान्य स्थापनाओं पर परस्पर वाग्युद्ध करते रहे। बहुत-से उन भारतीय विद्वानों ने अपने बड़े-बड़े ग्रंथों को खोलने में संकोच किया, जो ज्ञान का प्रकाश देने की अपेक्षा अधिकतर हमें असमंजस में डालने का कारण बनते हैं। उनकी कुशाग्रबुद्धि एवं उत्साह से कोई इनकार नहीं कर सकता। किंतु इन टीकाओं में विचारों के स्थान पर केवल शब्द मिलते हैं, दर्शनशास्त्र के स्थान में तर्कशास्त्र की काट-छांट, विचार की अस्पष्टता, तार्किक जटिलता और मनोवृत्ति की असहिष्णुता पाई जाती है, जो बहुत खेदजनक है। इनसे उत्तम श्रेणी के भाष्यकार निःसंदेह उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने कि प्राचीन विचारक स्वयं थे। शंकर और रामानुज जैसे भाष्यकार प्राचीन सिद्धांतों को फिर से स्थिर करते हैं और उनके द्वारा की गई यह पुनःस्थापना आध्यात्मिक खोज के समान ही महत्त्वपूर्ण है।

भारतीय दर्शन के कुछ इतिहास भारतीय विचारकों द्वारा लिखे गए मिलते हैं। लगभग सभी अर्वाचीन टीकाकार अपने-अपने दृष्टिकोण से दूसरों के सिद्धांतों पर वाद-विवाद करते हैं। इस मार्ग से प्रत्येक टीकाकार हमें अन्य मतों का पता दे जाता है। कभी-कभी तो अन्य कितनी ही दार्शनिक पद्धतियों पर निरंतर रूप से और जान-बूझकर विवाद किया गया है। इस प्रकार के कुछ मुख्य ऐतिहासिक विवरण यहां दिए जाते हैं। हरिभद्र द्वारा रचित[2] एक ग्रंथ है जिसका नाम 'षड्दर्शनसमुच्चय' है, जिसमें छहों वैदिक दर्शनों का सार-संग्रह किया गया है। बताया जाता है कि समंतभद्र नामक एक दिगंबर जैन ने, जो छठी शताब्दी में हुआ, 'आत्ममीमांसा' नामक ग्रंथ लिखा है, जिसमें नाना प्रकार के दार्शनिक संप्रदायों की समालोचना की है।[3] एक माध्यमिक बौद्ध, जिसका नाम भावविवेक है, 'तर्कज्वाला' नामक ग्रंथ का निर्माता है, जिसमें उसने मीमांसा, सांख्य, वैशेषिक और वेदांत संप्रदायों की आलोचना की है। विद्यानंद नामक एक दिगंबर जैन ने 'षड्दर्शनविचार' (1300 ई.) नामक ग्रंथ में, कहा जाता है कि, हिंदू-दर्शनशास्त्रों की समालोचना की है। प्रसिद्ध वेदांती माधवाचार्य के 'सर्वदर्शनसंग्रह' नामक ग्रंथ में भारतीय दर्शन का सर्वाधिक प्रचलित विवरण दिया गया है। माधवाचार्य ने 14वीं शताब्दी में दक्षिण भारत में जन्म लिया था। शंकरस्वामी के 'सर्वसिद्धांत-सारसंग्रह'[4] और मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थानभेद'[5] में भी विभिन्न दार्शनिक सिद्धांतों का उपयोगी वर्णन पाया जाता है। ❖

संदर्भ :

1. 'क्रिटिकल फिलासफी आफ कांट', खंड 1, पृष्ठ 2।
2. श्री बार्थ कहते हैं : 'हरिभद्र, जिसकी मृत्यु जनश्रुति के अनुसार 529 ई.पू. में हुई, किंतु एक अधिक विश्वस्त प्रमाण के आधार पर, जो 9वीं शताब्दी में भी जीवित था और जिसके समाननामा अन्य भी कई व्यक्ति थे, एक ब्राह्मण था जिसने जैनमत स्वीकार कर लिया था। वह 1400 प्रबंधों का रचयिता था और मालूम होता है कि सबसे प्रथम उसने ही श्वेतांबर जैन संप्रदाय के शास्त्रीय साहित्य में संस्कृत भाषा का प्रवेश कराया। ब्राह्मण लोग षड्दर्शनों से दो मीमांसाओं, सांख्य और योग, न्याय और वैशेषिक को ग्रहण करते हैं। जबकि दूसरी ओर इसी शीर्षक के नीचे बहुत संक्षेप में 87 श्लोकों के अंदर, किंतु बिलकुल निष्पक्ष दृष्टि से हरिभद्र ने बौद्ध धर्म, जैन धर्म एवं न्याय, सांख्य, वैशेषिक और मीमांसाशास्त्र के अनुयायियों के सिद्धांतों की व्याख्या की है। इस प्रकार उसने अपना एक पृथक् संप्रदाय चुना है, जिसके साथ जैनियों का मत अधिक मेल खाता है और इस सम्प्रदाय को उसने अपने दोनों घोर विरोधी बौद्धमत एवं जैमिनी के कर्मकाण्ड-परक संप्रदाय के बीच स्थापित किया। अंत में जाकर वह इन दोनों को भी लोकायत एवं भौतिकवादी चार्वाक की ही श्रेणी में रखता है, केवल अपने निजी विचार से या सांप्रदायिक भाव से ही नहीं, किंतु उस समय के ब्राह्मण लोग भी उक्त दोनों संप्रदायों के विषय में ऐसा ही मत रखते थे।' (इंडियन एंटिकरी, पृष्ठ 66, 1895)
3. विद्याभूषण, 'मेडीवल सिस्टम्स आफ इंडियन लॉजिक', पृष्ठ 23।
4. उक्त पुस्तक के साथ शंकरस्वामी का नाम जोड़ना गलत प्रतीत होता है। देखें, कीथ : 'इंडियन लॉजिक', पृष्ठ 242, पा.टि.3।
5. देखें, मैक्समूलर : 'सिक्स सिस्टम्स', पृष्ठ 75 से 84 तक।

❖❖

संतुलित विकास : महाप्रज्ञ थीसिस

❑ डॉ. बच्छराज दूगड़ ❑

विकास की अवधारणा लगभग सात दशकों से मानवीय चिंतन और विश्वव्यापी संवाद का केंद्रबिंदु रही है। विकास संबंधी विचारों एवं प्रश्नों को अब केवल अर्थशास्त्रीय दृष्टि से ही नहीं देखा जा सकता। पिछले कुछ समय से इसमें शिक्षा एवं स्वास्थ्य के मुद्दों को भी जोड़ा गया है। विकास का पश्चिमी मॉडल मुख्यतः पश्चिमी राष्ट्रों की राजनीति, विचारों, अवधारणाओं एवं संवाद पर आधारित रहा है, जो शक्ति-केंद्रों एवं शक्ति-संबंधों को स्थापित कर एक विशेष प्रकार की विचारधारा को पोषित करता है। विकसित, अविकसित एवं विकासशील; प्रथम, दूसरी एवं तीसरी दुनिया तथा परंपरा व आधुनिकता जैसे शब्द बौद्धिक राजनीति के आधार बन गए हैं। विकास की चर्चा इन्हीं शब्दों के अर्थ एवं विवेचना से प्रारंभ होती है तथा सकल राष्ट्रीय उत्पाद और राष्ट्रीय आय वृद्धि पर आकर समाप्त हो जाती है। सकल राष्ट्रीय उत्पाद और राष्ट्रीय आय वृद्धि ही विकास का मापदंड है। पिछले पांच-छह दशकों में विश्व की आय में न्यूनतम सात गुना वृद्धि हुई, परंतु राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर इसका वितरण विषमतापूर्ण रहा।

> ‘ *वे अर्थार्जन में मूल्यों के ह्रास को पूंजीवादी एवं समाजवादी विचारकों की तरह स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं—करुणा एवं संवेदनशीलता का विकास आर्थिक विकास के साथ-साथ होना चाहिए। उनकी विकास की अवधारणा अर्थजनित होते हुए भी मूल्यों एवं साधन-शुद्धि पर अवलंबित है। स्पेंसर के अनुसार आदर्श स्थिति तो वह है—जहां उद्योगवाद के साधनों को मानव चरित्र एवं नैतिक आचार को पूर्ण विकसित करने की दिशा में मोड़ा जा सकता हो। इससे मानव चरित्र में सामाजिकता के गुण विकसित होंगे और बाहरी नियंत्रण की अपेक्षा नहीं रहेगी।* ’

परिणामतः अमीरी और गरीबी का असंतुलन बढ़ा। विकास के पूंजीवादी मॉडल से लेकर साम्यवादी अर्थव्यवस्था एवं वैश्वीकरण के विचारों ने मानव को परिधि में कर, भौतिक सुख-सुविधा व उपभोग को जीवन का केंद्र बना दिया। विश्व में वित्तीय संकट बढ़ा, समाज में हिंसा बढ़ी एवं सांस्कृतिक अस्थिरता के खतरों ने तीव्र प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया। शक्तिशाली राष्ट्रों का प्रभुत्व केवल राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में ही नहीं बढ़ा है, सांस्कृतिक क्षेत्र में भी उनका वर्चस्व फैला है और एक नए आर्थिक साम्राज्यवाद का उदय हुआ है।

प्रो. सैमुअल हटिंगटन का सभ्यताओं का संघर्ष लेखन का चर्चित मुद्दा यही आर्थिक साम्राज्यवाद है। हटिंगटन का कहना है—पश्चिमी राष्ट्र अपने आर्थिक हितों को पूरा करने के लिए वैयक्तिक स्वतंत्रता, लोकतंत्र एवं उदारवाद की अपनी मान्यताओं को दूसरी संस्कृतियों पर थोप रहे हैं। दूसरी संस्कृतियां इस आर्थिक प्रभुता का विरोध आर्थिक एवं राजनीतिक स्तर पर नहीं कर पा रही हैं, इसीलिए वे धर्म अथवा संस्कृति के आधार पर गठबंधन बना रही हैं। वैश्विक बाजार

के विस्तार से पूर्वी देशों की आर्थिक एवं राजनीतिक पहचान पर जिस अनुपात से संकट पैदा हो रहा है, उसी अनुपात में वे अपनी धार्मिक एवं सांस्कृतिक पहचान को पुष्ट कर रहे हैं।

इस परिदृश्य में हम सीमाविहीन भौतिक विकास और वास्तविक उन्नति पर भी विचार करें। क्या भौतिक उन्नति के अनुपात में नैतिक विकास हो रहा है? नैतिक उन्नति से पूर्व भौतिक उन्नति एवं दरिद्रता अतिशय नैतिक पतन को जन्म देती है—जैसे विचार आज उचित नहीं कहे जा सकते। इतिहासकालीन रोम एवं मिश्र भौतिक रूप से उन्नत होते हुए भी नैतिक पतन के शिकार हुए अर्थात् भौतिक उन्नति का अनिवार्य परिणाम नैतिक उन्नति नहीं है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इन दृष्टिकोणों के बीच एक समन्वय स्थापित करते हुए कहते हैं—गरीब भी नैतिक हो सकता है और अमीर अनैतिक। समाज के लिए अनैतिक अमीर उपयोगी नहीं है, तथा नैतिक गरीब भी। सुव्यवस्था के लिए दोनों का समन्वय आवश्यक है। इसलिए वे आस्था व रोटी में समन्वय की बात करते हैं। विकास की पूंजीवादी समस्या का विश्लेषण करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—पूंजीवाद में व्यक्ति के लिए अभिप्रेरणा तो है, किंतु उस अभिप्रेरणा में साधन-शुद्धि का अभाव है। दूसरी तरफ वहां सामाजिक दायित्वबोध का भी अभाव है। सामाजिक दायित्वबोध की संवेदनहीनता के कारण शोषण अवश्यंभावी हो जाता है। मूल्य आधारित समाज-परिवर्तन के लिए ये दोनों स्थितियां ही संकट पैदा करने वाली हैं। यहां नैतिकता का विचार न केवल अप्रासंगिक है, अपितु उनके मार्ग में बाधक है। ऐसी स्थिति में समाज का परिवर्तन विकासवादी न होकर क्रांति उन्मुख हो जाता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी येन-केन-प्रकारेण हुए आर्थिक विकास को अमान्य करते हैं तथा साधन-शुद्धि पर बल देते हैं। वे अर्थार्जन में मूल्यों के ह्रास को पूंजीवादी एवं समाजवादी विचारकों की तरह स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं—करुणा एवं संवेदनशीलता का विकास आर्थिक विकास के साथ-साथ होना चाहिए। उनकी विकास की अवधारणा अर्थजनित होते हुए भी मूल्यों एवं साधन-शुद्धि पर अवलंबित है। स्पेंसर के अनुसार आदर्श स्थिति तो वह है—जहां उद्योगवाद के साधनों को मानव चरित्र एवं नैतिक आचार को पूर्ण विकसित करने की दिशा में मोड़ा जा सकता हो। इससे मानव चरित्र में सामाजिकता के गुण विकसित होंगे और बाहरी नियंत्रण की अपेक्षा नहीं रहेगी। वैज्ञानिक वैलेस लिखते हैं—धन-संपत्ति वेगवती उन्नति तथा प्रकृति पर हमारा प्रभुत्व, उन्नति के साथ अनीति को नाना रूपों में लाई है, जो उतनी ही अभूतपूर्व एवं आश्चर्यजनक है जितनी की संपत्ति की वृद्धि। वे लिखते हैं—किस प्रकार आदमियों, औरतों व बच्चों की लाशों पर कारखाने खड़े किए गए हैं और किस प्रकार ज्यों-ज्यों वह देश समृद्ध बनता गया त्यों-त्यों उसका नैतिक पतन होता गया। संभवतः इसी कारण हटिंगटन वैचारिक स्वतंत्रता के विचार को पश्चिमी बताते हैं। उनके अनुसार वैयक्तिक स्वतंत्रता वैश्विक मान्यता नहीं है, क्योंकि इंद्रिय सुख, भोग, भौतिक आकर्षण आदि में उपयोग ली गई स्वतंत्रता दीर्घकालीन अहित करती है, यद्यपि उनसे तात्कालिक सुख मिलता है। वैयक्तिक स्वतंत्रता को मर्यादित किए बिना उसका प्रभाव नकारात्मक हो जाता है तथा भोगवादी प्रवृत्ति आसुरी हो जाती है। पश्चिमी देशों में बढ़ते अपराध, हिंसा एवं तनावपूर्ण जीवन इस मान्यता को सही ठहराते प्रतीत होते हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—जब-जब मनुष्य की जीवन-शैली आवश्यकता और उपयोगिता से हटकर आसक्ति एवं सुविधावाद से प्रभावित हुई है, तब-तब समाज ने संकट के क्षणों का अनुभव किया है। विकास की अवधारणा से हमारी वर्तमान जीवन-शैली जुड़ी हुई है। केवल आर्थिक एवं भौतिक विकास की अवधारणा समाज को भोगपरक जीवन की ओर ले जाती है। इसीलिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी संतुलित विकास की अवधारणा पर बल देते हैं। उनके अनुसार इसके चार आयाम हैं— 1. आर्थिक व पदार्थ का विकास, 2. पर्यावरण की चेतना का विकास, 3. नैतिक मूल्यों का विकास और 4. आध्यात्मिक चेतना का विकास।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इन चारों आयामों को पुरुषार्थ चतुष्टय से जोड़ते हुए कहते हैं—समाज के लिए काम अर्थ को बाधित न करे, अर्थ काम को बाधित न करे, काम और अर्थ धर्म को बाधित न करे एवं धर्म काम और अर्थ को बाधित न करे। अर्थात् इनमें से किसी एक की भी अति न हो। अति समाज-व्यवस्था में गड़बड़ी पैदा करती है। विकास की वर्तमान अवधारणा में अर्थ व काम की अति हो रही है, इसलिए नैतिकता का लोप हो रहा है और उच्छृंखलता बढ़ रही है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का रुझान विकास की उत्तर-आधुनिक प्रवृत्ति की ओर अधिक है। इस प्रवृत्ति के अनुसार वही विकास पोषणक्षम होगा जिसमें—1. ऊर्जा का न्यूनतम प्रयोग हो, 2. शारीरिक श्रम को महत्त्व मिले, 3. वस्तुओं की मिताहारिता हो, 4. स्वैच्छिक सादगी एवं संयम को बढ़ावा मिले और 5. वैयक्तिक आत्मसंतुष्टि हो।

विकास की प्रचलित अवधारणा इसके ठीक विपरीत है। वह राष्ट्र विकसित राष्ट्र की श्रेणी में आता है जिसमें प्रति व्यक्ति ऊर्जा की खपत अधिक हो, संपूर्ण कार्य मशीनों से लिए जाएं, अधिक-से-अधिक उपभोग हो, तड़क-भड़क एवं भोग की असीमित इच्छा हो। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—असीमित उत्पादन और असीमित उपभोग; जिन राष्ट्रों में विकास की यह अवधारणा बनी, वहां वैचारिक अंतर्द्वंद्व छिड़ गया है। विकास के जिस मॉडल में संयम, सादगी एवं श्रम के साथ आत्मसंतुष्टि न हो, वह कभी आनंद नहीं दे सकता। विकास की वर्तमान अवधारणा में चरित्र की अवधारणा भी जुड़े, अर्थात् पदार्थ के विकास के साथ चरित्र का विकास हो तो वह विकास की समग्र अवधारणा होगी।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी विकास की वर्तमान अवधारणा पर आधारित कृत्रिम संस्कृति के पक्षधर नहीं हैं। उनके अनुसार उपभोग आवश्यकता के आधार पर हो, उपभोग के लिए उपभोग नहीं हो। व्यक्तिगत उपभोग-चेतना के साथ-साथ सामूहिक उपभोग-चेतना पर भी ध्यान देकर उपभोग को तर्कसंगत बनाया जा सकता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी विकास की वर्तमान एकांगी अवधारणा के आधार पर राष्ट्रों की श्रेणियों को भी नकारते हैं। विकास की वर्तमान अवधारणा के अनुसार जिन राष्ट्रों की विकास दर 13 प्रतिशत से अधिक है, वे विकसित राष्ट्र हैं। जिन राष्ट्रों की विकास दर 4 प्रतिशत से 13 प्रतिशत तक है, वे विकासशील राष्ट्र हैं और जिन राष्ट्रों की विकास दर 0 प्रतिशत से 4 प्रतिशत तक है, वे अविकसित राष्ट्रों की श्रेणी में हैं। औद्योगिक विकास और उपभोग-सामग्री के आधार पर किए गए इस अर्थहीन वर्गीकरण के स्थान पर वे वर्गीकरण का नया विकल्प प्रस्तुत करते हैं—

1. जिस राष्ट्र में औद्योगिक विकास पर्याप्त है, जिसके नागरिकों में उपभोग के संयम की चेतना जाग्रत है तथा जिसमें नैतिक मूल्यों के प्रति निष्ठा है; वह विकसित राष्ट्र है।

2. जो राष्ट्र औद्योगिक विकास की दिशा में गति कर रहा है, उपभोग सामग्री के संयम की दिशा में प्रगति कर रहा है और नैतिक मूल्यों के प्रति जागरूक हो रहा है; वह विकासोन्मुख राष्ट्र है।

3. जिस राष्ट्र में औद्योगिक विकास हो चुका है, उपभोग सामग्री की प्रचुरता है, किंतु नैतिक व आध्यात्मिक चेतना जाग्रत नहीं है; वह अर्धविकसित राष्ट्र है।

4. जिस राष्ट्र में औद्योगिक विकास नहीं हुआ, उपभोग सामग्री का अभाव है एवं नैतिक मूल्यों के प्रति उदासीन है; वह अविकसित राष्ट्र है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का यह वर्गीकरण भारतीय संस्कृति एवं आध्यात्मिक विरासत पर आधारित है। इसमें अर्थ को नकारा नहीं गया है। महात्मा गांधी ने पं. मदनमोहन मालवीय की अध्यक्षता में आयोजित एक सभा में—क्या आर्थिक उन्नति वास्तविक उन्नति के विपरीत बैठती है—विषय पर बोलते हुए कहा था—यथार्थ नैतिकता की दिशा में पश्चिम कुछ भी देने में असमर्थ है। मेरी यह भी धारणा है कि यदि हम जागरूक नहीं रहे तो उन सब अवगुणों का, जिनका पश्चिम शिकार बना है; समावेश हो जाएगा। इसका कारण भौतिकवाद से उत्पन्न होने वाले दोषों के सिवाय और कुछ नहीं है। इसी सभा में प्रो. हिगिनबॉटम ने कहा था—ऐसा कोई भी आर्थिक प्रश्न नहीं है, जिसे नैतिक प्रश्न से अलग किया जा सके। इसीलिए विकास की पुनर्विवेचना में भौतिक, मानवीय, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, सौंदर्यबोधक एवं आध्यात्मिक प्रश्नों को जोड़ना आवश्यक है। इसे व्यक्तिपरक स्तर एवं समाजपरक स्तर—दोनों स्तरों पर जोड़ा जा सकता है। व्यक्तिपरक स्तर पर व्यक्ति-विशेष की क्षमताओं की अभिव्यक्ति, अन्य लोगों की अभिव्यक्तियों के साथ इस तरह सामंजस्य करेगी कि समुदाय में सहयोग, मानवीय संबंधों में सुधार और शांति एवं सौहार्द का विकास होगा। सामाजिक स्तर पर व्यक्ति की अभिरुचि, जिज्ञासा एवं क्षमता-लक्ष्यों का निर्धारण कर उनके अनुरूप बाह्य सामाजिक संबंधों के प्रक्रियात्मक एवं संस्थागत स्वरूप निर्मित होंगे। इससे व्यक्ति एवं समाज के मध्य सामंजस्य की स्थापना हो सकेगी।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ की यही 'थीसिस' है। ❖

उपभोक्तावाद की मुक्ति में है निरापद आर्थिक विकास

❑ डॉ. राजेंद्रकुमार जैन ❑

विज्ञान और प्रौद्योगिकी के चरम विकास ने मनुष्य को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आराम और सुख-सुविधा देने वाले उच्च तकनीक से स्वचालित अनेक साधन प्रदान किए हैं, वहीं वैज्ञानिक खोजों के फलस्वरूप मनुष्य प्रकृति पर विजय पाकर उसका स्वामी बनने के प्रयास में भी लगा रहा है। परंतु वास्तविकता यह है कि एक ओर तो सुख-सुविधा प्रदान करने वाले साधनों ने मनुष्य को पंगु (गुलाम) बना दिया है, वहीं दूसरी ओर उत्तरोत्तर वैज्ञानिक उपलब्धियों के परिणाम-स्वरूप प्रकृति और प्राकृतिक संसाधनों का स्वामी बनने के उसके जुनून ने उसे स्वार्थी और लालची बना डाला है। इस प्रकार लालच और स्वार्थ से प्रेरित होकर जब मनुष्य पदार्थों के अधिकाधिक संग्रह एवं भोग के प्रति बिना किसी नियंत्रण के बढ़ता चला जाता है तो भोगाकांक्षा और उपलब्ध संसाधनों में एक असंतुलन की स्थिति पैदा होती है। वस्तुतः यह असंतुलन ही उपभोक्तावाद है। इस असंतुलन के कारण एक ओर तो मानव समाज का एक वर्ग जीवन जीने के लिए आवश्यक रोटी, कपड़ा, मकान, जल, ऊर्जा और शुद्धवायु के अभाव की समस्या से गुजर रहा है, वहीं दूसरी ओर एक वर्ग अति-उपभोग के कारण शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों से पीड़ित है। साथ ही मनुष्य में स्वार्थ-त्याग, पारस्परिक सहयोग, आपसी भाईचारा, दया, दान, करुणा, सहअस्तित्व आदि मानवीय संवेदनाओं या आध्यात्मिक मूल्यों का ह्रास हुआ है। अतः उपभोक्तावाद के खतरों के प्रति जनचेतना जाग्रत करना और उनके सम्यक् समाधान की दिशा में प्रयास करना आज की चरम आवश्यकता है।

> ‘*आर्थिक समृद्धि और भौतिक सुखों की ऊंचाइयों को प्राप्त करने के लिए उपभोक्तावाद अधिक उत्पादन एवं उपभोग-व्यय करके सुख-सुविधायुक्त जीवनयापन करने का भोगवादी दर्शन मानव समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है। जबकि अर्थशास्त्र में निहित केंद्रीय भाव है—लोगों को मितव्ययता के लिए प्रशिक्षित करना और उपलब्ध संसाधनों का प्राथमिकता के आधार पर सर्वोत्तम उपयोग कर अधिकतम संतोष या अधिकतम सामाजिक कल्याण प्राप्त करना। परंतु उपभोक्तावादी आर्थिक व्यवस्था में अर्थशास्त्र के इन मान्य मूल्यों का कोई महत्त्व नहीं रहा है। उसके भोगवादी दर्शन की छत्र-छाया में उत्पादन एवं उपभोग, दोनों ही दृष्टि से एक अपव्यय की संस्कृति पनप रही है।*’

मनुष्य जब ‘विवेकहीन’ और ‘असंयमित’ होकर उचित और अनुचित का चिंतन किए बिना वस्तुओं या पदार्थों का उपभोग करने लगता है, तो यह ‘उपभोक्तावाद’ कहलाता है।

उपभोक्तावाद : तर्क-कुतर्क

पूंजीवादियों द्वारा पोषित उपभोक्तावादी आर्थिक व्यवस्था एक ओर तो ‘स्वार्थ’ और ‘प्रतिस्पर्धा’ की भावना के आधार पर अधिकाधिक उत्पादन कर आर्थिक समृद्धि के पथ पर अग्रेषित होने के लिए मनुष्य को प्रेरित करती है, वहीं दूसरी ओर अधिकाधिक व्यय करके सुख-सुविधायुक्त जीवनयापन करने का ‘भोगवादी दर्शन’ मानव समाज के समक्ष प्रस्तुत करती है। वस्तुतः उपभोक्तावाद के समर्थन में आधारभूत तर्क यही है कि उपभोक्ताओं के द्वारा अधिक-से-अधिक व्यय करने से आर्थिक विकास का चक्र चलता है। तर्क यह है कि अधिक उपभोग के लिए अधिक उत्पादन, अधिक उत्पादन से अधिक रोजगार, अधिक रोजगार से अधिक आय—इस तरह यह चक्र निरंतर गतिशील रहता है। खुशफहमी यह कि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को यह

उपभोक्तावाद आर्थिक समृद्धि तथा भौतिक सुख की ऊंचाइयों पर ले जा रहा है। फलतः अर्थव्यवस्था में न तो कभी मंदी आती है और न ही मानव समाज कभी बेरोजगारी, गरीबी और भुखमरी का शिकार होता है।

इस दृष्टिकोण से जब भारतीय अर्थव्यवस्था पर उपभोक्तावाद के प्रभाव को देखने का प्रयास करते हैं तो ज्ञात होता है कि वर्ष 1950-51 में हमारे देश का सकल राष्ट्रीय उत्पादन 40454 करोड़ रुपया तथा प्रति व्यक्ति आय 1126 रुपया थी, जो वर्ष 1996-97 में बढ़कर क्रमशः 258465 करोड़ रुपया तथा प्रति व्यक्ति आय 2761 रुपया हो गई है।[1] इस प्रकार 46 वर्षों में भारत के सकल राष्ट्रीय उत्पादन में 636 प्रतिशत तथा प्रति व्यक्ति आय में 145 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इन तथ्यों के आलोक में भारत की आर्थिक समृद्धि और लोगों के जीवन स्तर में आश्चर्यजनक परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जाता है कि उपभोक्तावाद के कारण भारत में व्यक्ति और समाज आर्थिक दृष्टि से सुखी और संपन्न हुए हैं। परंतु वास्तविक स्थिति इससे भिन्न है। भारतीय समाज में आर्थिक विषमता, आर्थिक सत्ता का केंद्रीकरण, वर्ग-विद्वेष, शोषण आदि की प्रवृत्तियां बढ़ी हैं।

उपभोक्तावाद—एक अभिशाप : एक तथ्य

उपभोक्तावादी आर्थिक व्यवस्था स्वार्थ और प्रतिस्पर्द्धा की भावना के आधार पर अधिकाधिक उत्पादन कर आर्थिक समृद्धि के पथ पर अग्रेषित होने के लिए मनुष्य को प्रेरित करती है। इस संदर्भ में यह निर्विवाद सत्य मान लिया गया है कि स्वार्थ की भावना व्यक्तिगत विकास के लिए सर्वाधिक प्रभावकारी प्रेरक तत्त्व है। उससे प्रेरित होकर व्यक्ति में कुछ भी कर गुजरने की क्षमता आ जाती है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के सहयोग से व्यक्ति में कम-से-कम श्रम एवं समय में अधिक-से-अधिक धन अर्जित करने की वृत्ति और स्वार्थ-भावना का विकास हुआ है। केवल-मात्र धन अर्जित करना ही मनुष्य के जीवन का साध्य हो गया है। साधन के औचित्य-अनौचित्य का चिंतन किए बिना येन-केन-प्रकारेण इसे सिद्ध करने में वह लगा हुआ है। उसकी दृष्टि में 'साधनों का औचित्य सिद्धि में निहित है।' जिस समय जो साधन हाथ लगा, वही ठीक है। वस्तुतः यह विशुद्ध अवसरवाद है। अवैज्ञानिक विचार है। अनुचित कार्य है। स्वामी विवेकानंद ने कहा था—'तुम साधन की चिंता करो, साध्य अपने-आप निष्पन्न होगा।'[2] वस्तुतः साधन केवल साधन ही नहीं, बल्कि सब-कुछ है। अनुचित साधनों के प्रयोग के कुसंस्कार उन साधनों के व्यवहारकर्ता को भी अनैतिक बना देते हैं। यही कारण है कि इस उपभोक्तावादी व्यवस्था में धनरूपी साध्य को सिद्ध करने के लिए चोरी, डकैती, हत्या, अपहरण, आतंक, भ्रष्टाचार आदि कुकृत्य एक संगठित तौर-तरीके के रूप में स्थापित हो गए हैं। इस प्रकार एक ओर तो मनुष्य धन अर्जित करने की मशीन बनकर रह गया है, वहीं दूसरी ओर अर्जित धन का समुचित उपभोग कर भोग-सुख प्राप्त करने के लिए उसके पास समय ही नहीं है। आज मनुष्य न तो समय पर ठीक से खा पाता है और न ही समय पर ठीक से सो पाता है। जिन्होंने धन अर्जित किया है, उनके लिए अर्जित धन भी सुख-शांति प्रदान करने के स्थान पर दुख या तनाव का कारण बन गया है, क्योंकि उन्हें भी कर-अपवंचन, चोरी, हत्या, अपहरण आदि का सदैव भय बना रहता है और स्वामित्व की दृष्टि से पारिवारिक संघर्ष भी प्रारंभ हो जाता है।

वस्तुतः अर्जित धन के सुखोपभोग का लाभ लेने के स्थान पर मनुष्य उसका 'मैनेजर' या 'चौकीदार' बनकर रह गया है। मजे की बात यह है कि यह सब मशक्कत भी मनुष्य अपनी सुख-शांति के लिए कर रहा है। इस प्रकार से व्यक्ति जब प्रतिस्पर्धा की भावना से काम करता है तो उसमें स्वार्थ-भाव ही प्रमुख रहता है। यह भावना एक बार जब व्यक्ति के मन में आ जाती है तो वह अधिक-से-अधिक स्वार्थी एवं स्व-केंद्रित होता जाता है। इन्हीं भावनाओं को प्रेरित करने के लिए Wealth of Nations कृति के लेखक एडम स्मिथ कहते हैं—'कभी किसी का भला मत करो, भला करना ही है तो तब करो जब ऐसा करने से तुम्हारा स्वार्थ सिद्ध होता हो।'[3] इसी संदर्भ में आधुनिक अर्थशास्त्री जे.एम. कीन्स का कथन है—'लोभ और लालच को हम कुछ वर्षों के लिए अपना भगवान बनाकर रखें, क्योंकि उसी के माध्यम से हम गरीबी के तिमिर को पार कर प्रकाश की किरण देख सकते हैं।'[4] वस्तुतः स्वार्थ और प्रतिस्पर्धा की भावनाएं व्यक्ति में लालच उत्पन्न करती हैं, जिसमें 'पर्याप्त' या 'संतुष्टि' की कोई लक्ष्मणरेखा नहीं होती है। अतः व्यक्ति सदा ही असंतुष्ट बना रहता है तथा अधिकाधिक उत्पादन, संग्रह और भोग की चाह में स्वयं को दांव पर लगाए रखता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति अनेक मानसिक एवं शारीरिक बीमारियों, यथा—तनाव, माइग्रेन, मस्तिष्कीय ज्वर, अनिद्रा, हताशा, निराशा, हीनभावना, अवसाद, असुरक्षा, उच्च रक्तचाप, हृदयघात, ब्रेन हेमरेज, लकवा, हिस्टीरिया, मोटापा आदि से पीड़ित

होता जाता है। इसी के साथ अधिकतम पाने की चाह में या शीर्ष पर बने रहने के लिए जब स्वहित आपस में टकराते हैं तो समाज में 'पारस्परिक गलाकाट प्रतिस्पर्धा' निर्मित होती है। फलस्वरूप मानव समाज में 'अस्तित्व के लिए संघर्ष', 'सर्वोत्तम ही जीवित रहेगा' आदि भावनात्मक संकीर्णताएं जन्म लेती हैं, जो आर्थिक आधार पर समाज को 'उच्च धनी वर्ग', 'धनी वर्ग', 'उच्च-मध्यम धनी वर्ग', 'मध्यम वर्ग', 'निम्न वर्ग' और 'गरीबी रेखा' के नीचे जीवनयापन करने वाले वर्गों में विभाजित कर देती हैं। फलतः 'वर्ग संघर्ष' की स्थितियां जन्म लेकर सामाजिक शांति भंग हो जाती है। वस्तुतः उपभोक्तावादी अर्थव्यवस्था व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए एक अभिशाप के समान है। इसकी पुष्टि निम्नलिखित तथ्यों से भी होती है—

उपभोक्तावादी संस्कृति के अग्रज राष्ट्र अमेरिका में 90 लाख व्यक्ति मानसिक व्याधियों से संत्रस्त हैं तथा 15 लाख व्यक्ति बुद्धिहीनता से पीड़ित हैं। एक करोड़ 70 लाख व्यक्ति ऐसे हैं जिनका मानसिक संतुलन ठीक नहीं है। अमेरिका में प्रति 12 बच्चों में से एक बच्चा प्रतिवर्ष किसी-न-किसी भयंकर मानसिक रोग से पीड़ित होता है। गत महायुद्ध में अमेरिका में एक करोड़ 40 लाख आदमियों का परीक्षण किया गया, जिनमें से 20 लाख लोग ही सेना में भर्ती के योग्य पाए गए। वहां प्रति 200 व्यक्तियों में से एक व्यक्ति पागल हो जाता है। 15 हजार आदमियों में से 76 को कोई-न-कोई असाधारण बीमारी है। वहां की जनसंख्या का छठवां भाग किसी-न-किसी बीमारी से पीड़ित है। 55 साल की आयु के बाद प्रति 8 पुरुषों में से एक व 14 महिलाओं में से एक की मृत्यु कैंसर से होती है। लगभग 17 लाख 50 हजार गंभीर अपराध प्रतिवर्ष दर्ज होते हैं। धूम्रपान और शराब वहां का आम रिवाज ही बन गया है। प्रतिवर्ष 17 हजार व्यक्ति अपराध करते हैं। हर वर्ष होने वाले प्रति 4 विवाहों में से एक तलाक होता है। प्रतिवर्ष 7 से 17 वर्ष की आयु के करीब 2 लाख 65 हजार अपराधी बच्चे अदालत में पेश किए जाते हैं। ये आंकड़े भी काफी पुराने हैं—इन आकड़ों में अब वृद्धि ही हुई है। *(गणेशमुनि शास्त्री, अहिंसा की बोलती मीनारें, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, पृष्ठ 90-91)*

अमेरिकी समाज की बद से बदतर स्थिति पर ब्रिटेन से प्रकाशित सुप्रतिष्ठित पत्र 'दि इकोनॉमिस्ट' ने भी एक रिपोर्ट प्रकाशित की है। इसका शीर्षक है—'इक्कीसवीं सदी में अमेरिकी परिवार का भविष्य'। यह रिपोर्ट शिकागो विश्वविद्यालय में राष्ट्रीय मत अनुसंधान केंद्र ने 24 नवंबर, 1999 को प्रस्तुत की थी। इस रिपोर्ट में प्रकाशित कुछ तथ्य इस प्रकार हैं :

- अमेरिका में परिवारों के संचालन एवं बच्चों के लालन-पालन में विवाह संस्था का महत्त्व घट गया है।
- सन् 1960 से सन् 1996 के बीच 36 वर्षों में तलाक का प्रतिशत दुगुना हुआ है।
- सन् 1960 में अविवाहित माताओं की संख्या 5 प्रतिशत थी, जो 1996 में बढ़कर 32 प्रतिशत हो गई है।
- सन् 1972 में 72 प्रतिशत बच्चे अपने माता-पिताओं (विवाहित) के साथ रहते थे, जबकि सन् 1996 में मात्र 52 प्रतिशत बच्चे अपने माता-पिता (दोनों) के साथ रहते हैं।
- अमेरिका में विवाहित स्त्री-पुरुषों को भी बच्चे नहीं चाहिए। सन् 1972 में 45 प्रतिशत माता-पिताओं के बच्चे नहीं थे।
- अब अमेरिकी युवक-युवतियां बड़ी उम्र में विवाह करने लगे हैं। कई तो शादी के पहले कुछ काल तक शादीशुदा जीवन का प्रयोग करते हैं।
- अमेरिका में 25 प्रतिशत स्त्रियां अपने पतियों से अधिक आमदनी प्राप्त कर लेती हैं।
- लगभग 6 प्रतिशत पुरुष घरेलू कामकाज करते हैं तथा उनकी पत्नियां कमाई करती हैं।
- अमेरिका में प्रतिवर्ष 30 हजार व्यक्ति गोलियों के शिकार होते हैं। बच्चों में अपने सहपाठियों पर गोली चलाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

उपरोक्त तथ्य विश्व की सर्वोच्च आर्थिक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित अमेरिकी समाज की दुखद आंतरिक स्थिति की तस्वीर प्रस्तुत करते हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार आधुनिक जीवन-शैली, भाग-दौड़-भरी जिंदगी, रातोरात शिखर पर पहुंचने की आकांक्षा और बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा के कारण इस समय पूरे विश्व में 45 करोड़ लोग मानसिक बीमारियों, जैसे—तनाव, अवसाद और असुरक्षा की भावना से ग्रस्त हैं। मशीनीकृत होती जिंदगी के कारण आगामी 15-20 वर्षों में विश्व का हर चौथा व्यक्ति इनमें से किसी-न-किसी एक व्याधि से ग्रस्त होगा। डब्ल्यू.एच.ओ. द्वारा तैयार की गई इस रिपोर्ट—'मेंटल हेल्थ—न्यू अंडरस्टेंडिंग : न्यू होप'—में विश्व के सभी देशों से आग्रह किया गया है कि

वे अपने विदेशी मुद्रा भंडारों की ओर ध्यान देने की बजाय मानसिक व्याधियों से ग्रस्त लोगों पर अधिक ध्यान दें तो स्थिति में सुधार हो सकता है।' *(नई दुनिया, दैनिक समाचार पत्र, इंदौर, दिनांक 20 अक्टूबर, पृष्ठ 15)*

भारत के 108 करोड़ लोगों या उनके 21 करोड़ कुटुंबों में से मात्र 56 हजार कुटुंब ही मौज-मस्ती की जिंदगी गुजार रहे हैं। शेष 80 प्रतिशत कुटुंबों की स्थिति कुछ इस प्रकार है—

- दुनिया-भर में जितने लोगों को शाम का भोजन नहीं मिलता है, उनमें से चौथाई लोग केवल भारत में हैं।
- सरकारी आंकड़ों के अनुसार हमारे देश में 40 करोड़ लोग गरीबी की रेखा के नीचे जी रहे हैं, जिन्हें अपना गुजारा करने के लिए औसतन 77 रुपये प्रति व्यक्ति प्रतिमास प्राप्त होते हैं।
- मजदूरी करके पेट पालने वाले बालकों की संख्या पूरी दुनिया में जितनी है, उसका एक तिहाई केवल भारत में है। हालांकि उनकी इच्छा पढ़ने-लिखने की होती है, पर मजबूरी में उनको घरखर्च में मदद करने के लिए मजदूरी करनी पड़ती है।
- भारतीय समाज पर 18 लाख करोड़ रुपये का कर्ज है, अर्थात् हर नागरिक 18 हजार रुपये का कर्जदार है। जबकि अनेक ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी जमापूंजी 18 रुपये भी नहीं है।
- भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में 76 प्रतिशत एवं शहरी क्षेत्रों में 18 प्रतिशत लोगों के पास शौचालय सुविधा नहीं है।
- भारत में 19 प्रतिशत परिवार 10 वर्गमीटर से भी कम जगह में रहते हैं, जबकि 44 प्रतिशत परिवारों को केवल एक कमरे से काम चलाना पड़ता है। औसतन शहरों में 35 प्रतिशत आबादी झुग्गी-बस्तियों में रहती है। दिल्ली, मुंबई, कोलकाता, चेन्नई जैसे महानगरों में रहने वाले एक तिहाई लोग फुटपाथ पर सोते हैं। *(सत्याग्रह मीमांसा, मासिक पत्रिका, मई, 2004, पृष्ठ 324)*

यदि सारी दुनिया को हम अमेरिका के सन् 1950 के जीवन स्तर पर लाना चाहें तो भी आज से 7 गुना पेट्रोल, 8 गुना गैस, 9 गुना कोयला, 74 गुना लोहा, 100 गुना तांबा और 200 गुना टीन की आवश्यकता होगी, इतना खनिज धरती के गर्भ में है ही नहीं। *(फ्यूचर ऑफ द ट्रबल्ड वर्ल्ड में श्री मोरिस आर्मस्ट्रांग का वक्तव्य। सर्वोदय जगत, पाक्षिक पत्रिका, 11 दिसंबर, 2003, पृष्ठ 16)*

चौंकाने वाले कुछ और तथ्य इस प्रकार हैं—

- अमेरिका, जिसके पास विश्व की मात्र 6 प्रतिशत आबादी है, 30 प्रतिशत संसाधनों का प्रयोग कर लेता है। जिसके फलस्वरूप विश्व की एक बहुत बड़ी आबादी गरीबी, अभाव एवं शोषण से अभिशप्त है। *(श्री ई.एफ. शुमेकर, स्वाध्याय शिक्षा, द्विमासिक पत्रिका, अंक 59, पृष्ठ 18)*
- सन् 1976 में अमेरिका के सबसे ऊपर वाले धनी लोगों के पास राष्ट्र की कुल संपत्ति का 20 प्रतिशत भाग था, जो सन् 2000 में बढ़कर 40 प्रतिशत हो गया।
- 1960 में दुनिया के धनी देशों में रहने वाले आर्थिक दृष्टि से सर्वाधिक संपन्न 20 प्रतिशत धनिकों और गरीब या अविकसित कहे जाने वाले देशों में रहने वाले आर्थिक दृष्टि से सर्वाधिक निर्धन लोगों के बीच एक और 30 का अनुपात था, जो 1999 तक बढ़कर एक और 74 हो गया। *(सत्याग्रह मीमांसा, मासिक पत्रिका, नवंबर, 2003, पृष्ठ 22 से)*
- आज दुनिया में दो अरब लोग ऐसा पानी पीते हैं जिससे अमीर लोग अपनी कार धोना भी पसंद नहीं करते। इसके अलावा एक अरब 20 करोड़ लोग ऐसा सोचते हैं कि ऐसा पानी भी मिल जाए ताकि हम अपनी प्यास बुझा लें। *(अर्पण-समर्पण, मासिक पत्रिका, इंदौर, अक्टूबर, 2004, पृष्ठ 16)*
- भारत के सबसे निर्धन 20 प्रतिशत परिवारों का राष्ट्रीय आय में भाग मात्र 7 प्रतिशत और सबसे धनी 20 प्रतिशत परिवारों का भाग 49.50 प्रतिशत है। *(भारतीय अर्थव्यवस्था, मिश्र एवं पुरी, हिमालया पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली, पृष्ठ 156)*
- भारत में निजी कंपनी का मुख्य कार्यकारी अधिकारी 15 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष आसानी से कमा लेता है, वहीं एक आम आदमी वर्ष-भर में 5 हजार रुपये बड़ी मुश्किल से कमा पाता है।
- एक अध्ययन के अनुसार सन् 1980 के पश्चात् विकासशील देशों में कुपोषण के शिकार लोगों की संख्या में 30 प्रतिशत की वृद्धि हुई है, जबकि दुनिया का हर पांचवां आदमी भूखा रहता है।
- 'वर्ल्ड हेल्थ रिपोर्ट' बताती है कि भारत में करोड़पतियों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। वर्ष 2003 में

करोड़पतियों की संख्या 61 हजार थी, वह वर्ष 2009 में बढ़कर 16 लाख हो जाएगी। दूसरी ओर देश की संसद में मजदूरों की हालत की तस्वीर पेश की जाती है कि भारत में एक महिला कारीगर को एक पेटीकोट की सिलाई महज एक रुपया मिलती है। वहीं कस्बों में एक ब्लाउज सिलने की मजदूरी 30 पैसे मात्र है। एक हजार बीड़ी बनाने वाली महिला 20 रुपये पाती है और 12 घंटे काम करने वाला मजदूर 1200 रुपये माहवार पाता है।

- भूमंडलीकरण के इस दौर में उत्तरी अमेरिका और भारत में प्रति व्यक्ति आय का अनुपात एक और 80 का है। *(अनिल चामड़िया, आलेख 'फासले', दैनिक भास्कर, दिनांक 28-08-05)*
- 'इंस्टीट्यूट फॉर पॉलिसी स्टडीज एंड युनाइटेड फॉर ए फेयर इकोनॉमी' की सितंबर, 2005 में जारी अध्ययन रिपोर्ट में बताया गया है कि भारतीय आउटसोर्सिंग कंपनियों के सीईओ (मुख्य कार्यपालन अधिकारी) और कंप्यूटर प्रोग्रामर की औसत कमाई का अनुपात 1308:1 है और कॉल सेंटरों में तो यह अनुपात 3348:1 है।
- बंगलौर के गैर-सरकारी संगठन 'पीपुल्स अफेयर्स सेंटर' ने हमारे देश (भारत) के सांसदों द्वारा चुनाव आयोग को दिए गए हलफनामों का अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि चौदहवीं लोकसभा के 541 सांसदों की घोषित संपत्ति 878 करोड़ रुपये है। एक चौथाई सांसद करोड़ों के मालिक हैं और आधे से अधिक के पास 50 लाख रुपये की संपत्ति है। जबकि इसी देश की कुल जनसंख्या का हर तीसरा व्यक्ति गरीबी की रेखा के नीचे जीवनयापन कर रहा है। *(विश्वनाथ सचदेव, नई दुनिया दैनिक, दिनांक 22 अक्टूबर, 2004, पृष्ठ 6)*
- अधिकाधिक उत्पादन करने और मुनाफा कमाने के लिए दिल्ली, नोएडा, गुड़गांव और इनके आस-पास के क्षेत्रों में स्थित कंपनियां कर्मचारियों से 13-14 घंटे प्रतिदिन काम लेती हैं। कहा जा सकता है कि ये कंपनियां कर्मचारियों से 'न थकने वाले सायबर कुली' की तरह काम लेती हैं। काम के बेतुके घंटे, अपमानजनक व्यवहार, अस्थाई नौकरी होने से बात-बेबात में नौकरी से निकालने की घटनाएं लगभग सभी निजी कंपनियों की कहानी है। कुछ कंपनियां तो कर्मचारियों के शौचालय जाने का भी बाकायदा रिकार्ड रखती हैं। इस प्रकार ये कंपनियां कर्मचारियों के मानवाधिकार एवं आत्मसम्मान को छीनकर उनका शोषण कर रही हैं। *(श्री फमकाचे, 'मुनाफे की चक्की में पिसते मानवाधिकार', नई दुनिया दैनिक, दिनांक 20 अगस्त, 2005, पृष्ठ 9)*

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि आमदनी और संपत्ति मात्र कुछ हाथों में सिमटती जा रही है और बहुत बड़ी जनसंख्या निर्धनता की ओर बढ़ रही है। 'हैव' और 'हैव नोट्स' के बीच की खाई गहरी है। श्रमिकों का शोषण हो रहा है। वस्तुतः उपभोक्तावादी व्यवस्था ने व्यक्तिगत स्तर पर व्यक्ति को शारीरिक और मानसिक रूप से विकलांग किया है, वहीं पारिवारिक स्तर पर उसे तोड़ दिया है और सामाजिक स्तर पर विषमता, ऋणग्रस्तता और शोषण वृत्तियों को बढ़ावा दिया है। फलतः मानव समाज आज सबसे अधिक अशांत, दुखी, पीड़ित और शोषित है। इस व्यवस्था में मानवीय कल्याण गौण है जो कि सभी आर्थिक क्रियाओं का आधारभूत लक्ष्य होना चाहिए। जैसा कि अल्फ्रेड मार्शल ने कहा था—'राजनीतिक अर्थशास्त्र मानव कल्याण का विज्ञान है और प्रत्येक अर्थशास्त्री, नीति-निर्माता को मानव कल्याण को केंद्र में रखकर आर्थिक चिंतन, आर्थिक व्यवस्था एवं आर्थिक नीतियां प्रस्तुत करनी चाहिए।'[5]

जैसा कि कहा जा चुका है कि आर्थिक समृद्धि और भौतिक सुखों की ऊंचाइयों को प्राप्त करने के लिए उपभोक्तावाद अधिक उत्पादन एवं उपभोग-व्यय करके सुख-सुविधायुक्त जीवनयापन करने का भोगवादी दर्शन मानव समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है। जबकि अर्थशास्त्र में निहित केंद्रीय भाव है—लोगों को मितव्ययता के लिए प्रशिक्षित करना और उपलब्ध संसाधनों का प्राथमिकता के आधार पर सर्वोत्तम उपयोग कर अधिकतम संतोष या अधिकतम सामाजिक कल्याण प्राप्त करना। परंतु उपभोक्तावादी आर्थिक व्यवस्था में अर्थशास्त्र के इन मान्य मूल्यों का कोई महत्त्व नहीं रहा है। उसके भोगवादी दर्शन की छत्र-छाया में उत्पादन एवं उपभोग, दोनों ही दृष्टि से एक अपव्यय की संस्कृति पनप रही है। इस संबंध में कुछ और बिंदु भी विचारणीय हैं।

उपभोक्तावादी व्यवस्था में अधिक उत्पादन के लिए बाजार में मांग बनाए रखने हेतु शून्य प्रतिशत ब्याज दर आधारित ऋण सुविधाओं, ऋण चुकाने की आसान किश्तों जैसी प्रलोभित करने वाली 'स्कीमों' और चित्ताकर्षक विज्ञापनों के आधार पर समाज में कृत्रिम मांग का सृजन

करना कहां तक उचित है? उत्पादों में जल्दी-जल्दी बदलाव कर लोगों में नई-नई फैशन के प्रति चाह पैदा करना कहां तक उचित है? किसी ब्रांड-विशेष का 'आटा' या 'नमक' या 'पानी' या 'मसाले' जैसी जीवनरक्षक आवश्यकताओं संबंधी वस्तुओं को 'इलेक्ट्रॉनिक मीडिया' में विज्ञापित करने का क्या औचित्य है? जबकि नित नई-नई फैशन एवं विज्ञापनों के कारण वस्तुओं की लागत कई गुना बढ़ जाती है। ये विज्ञापन मनुष्य में किस प्रकार की बुद्धिमत्ता या जागरूकता को प्रोत्साहित कर रहे हैं? और कितने तथ्यात्मक हैं? या मात्र विक्रय-प्रसार का षड्यंत्र हैं?

इस व्यवस्था में अनेक ऐसी वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा है जिनका उपयोग समाज के कुछ ही लोग कर सकते हैं। इस प्रकार आवश्यकता की प्राथमिकता का सिद्धांत ही अर्थहीन हो गया है। उदाहरण के लिए भारत जैसे राष्ट्र में, जहां कि लगभग 40 प्रतिशत जनसंख्या को दो समय ठीक से खाना नसीब नहीं होता, देश की आजादी के 59 साल पश्चात् भी शुद्ध पेयजल, बिजली, सड़क जैसी जरूरतों की आपूर्ति जर्जर है, वहां विभिन्न प्रकार के विलासिता एवं सौंदर्य उत्पादों, मोटरकारों आदि वस्तुओं का व्यापक पैमाने पर उत्पादन करने का क्या औचित्य है?

इस व्यवस्था में बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिए श्रम-प्रधान तकनीक का स्थान पूंजी-प्रधान तकनीक ने ले लिया है। फलतः जनाधिक्य वाले राष्ट्रों में बेरोजगारी बढ़ी है तथा समाज के बड़े वर्ग के लिए रोजगार या आमदनी कमाने का व्यापार-आधार कम हुआ है।

इस व्यवस्था ने व्यक्ति को मितव्ययी होने के स्थान पर अपव्ययी बना दिया है। अनगिनत और विविध प्रकार के सौंदर्य प्रसाधनों, मोटापा बढ़ाने और कम करने वाली दवाइयों, मादक पदार्थों व द्रव्यों का उपयोग करना, खिलाड़ियों द्वारा सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन के लिए नशीली दवाइयां लेना, 'ब्यूटी-पार्लर', 'मसाज-पार्लर' जाना, जुआघरों में शामें गुजारना कहां तक उचित है? युवा पीढ़ी द्वारा घंटों मोबाइल पर बात करना, मानवीय संवेदनाओं-खुशियों को अभिव्यक्त करने के लिए सबसे उपयुक्त एवं सस्ते साधन पत्राचार के स्थान पर अधिक लागत वाले टेलीफोन, मोबाइल के उपयोग करने के वशीभूत होकर मानवीय संवेदनाओं का यंत्रीकरण करना क्या उचित है? छोटी-छोटी दूरियों के लिए वाहनों का उपयोग कर स्वास्थ्य को दांव पर लगाना कहां तक उचित है? इसी प्रकार से विवाह, मुंडन-संस्कार, जन्मोत्सव आदि सामाजिक उत्सवों एवं धार्मिक कार्यक्रमों, चल समारोहों, शोभायात्राओं आदि धार्मिक उत्सवों पर प्रकाश एवं ध्वनि व्यवस्था, सजावट, आयोजन स्थल, टेंट व्यवस्था, भोजन व्यवस्था, उपहार एवं ग्रीटिंग कार्ड पर प्रतिस्पर्धात्मक आधार पर व्यय करना कहां तक उचित है? क्या ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि इन उत्सवों में दर्शन के स्थान पर प्रदर्शन और आडंबर परिलक्षित हो रहा है? परंतु यह हमारा दुर्भाग्य है कि वर्तमान समय में उपरोक्त सभी खर्चों को 'स्टेटस सिंबल', प्रतिष्ठा, मान-सम्मान, समाज में ऊंचा स्थान आदि के रूप में मान्य किया जा रहा है। वस्तुतः ये सभी व्यय अपव्यय हैं, जो न केवल आर्थिक दृष्टि से हानिकारक हैं, अपितु नैतिक एवं सामाजिक दृष्टि से अपराध भी हैं।

परिग्रह परिमाण व्रत और उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत की प्रासंगिकता

उपभोक्तावाद की समस्या पर गहराई से चिंतन करने पर हम पाते हैं कि अपने-आप में यह कोई समस्या नहीं है, वरन इस समस्या के मूल में मनुष्य की प्रतिस्पर्धात्मक, स्वार्थ, लालच एवं भोगवृत्ति पर आधारित अस्वस्थ जीवन शैली है। अतः इस समस्या का समाधान करने के लिए ऐसे उपायों के व्यापक प्रचार-प्रसार, और उनको आचरण में लाने के लिए समाज को जागरूक, प्रेरित, शिक्षित, प्रशिक्षित करने की जरूरत है, जिससे आर्थिक समृद्धि और नैतिक, सामाजिक एवं मानवीय जीवन-मूल्यों में यथासंभव संतुलन का वातावरण निर्मित हो सके ताकि समाज का औसत व्यक्ति भी उपलब्ध संसाधनों एवं परिस्थितियों में भौतिक सुख एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक संतोषपूर्वक जीवनयापन कर सके। इस संदर्भ में प्राचीन भारतीय संस्कृति में 'इच्छाओं को सीमित' करने का विधान किया गया है, जो कि उपभोक्तावाद की समस्या को जड़-मूल से समाप्त करने के लिए कारगर व व्यावहारिक समाधान है। मनुष्य के चारित्रिक एवं नैतिक उत्थान के लिए श्रमणधारा की जैन परंपरा में 'श्रावकों के बारह व्रतों' की व्यवस्था, बौद्ध परंपरा में 'अष्टशील व्यवस्था' और योग परंपरा में 'यम-नियम' व्यवस्था के अंतर्गत व्यक्ति की संग्रह एवं उपभोग संबंधी इच्छाओं को सीमित करने का निर्देश किया गया है। जैन परंपरा की बारहव्रत व्यवस्था (श्रावकाचार) के अंतर्गत परिग्रह परिमाणव्रत और उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत व्यक्ति की संग्रह (स्वार्थ, लालच) एवं उपभोग की इच्छाओं के नियंत्रण हेतु एक सक्षम व्यवस्था है। अतः इन दोनों व्रतों का यहां उल्लेख करना प्रासंगिक होगा।

परिग्रह परिमाणव्रत :

इस व्रत के अंतर्गत गृहस्थ उपासक से यह अपेक्षा की गई है कि वह अपनी संपत्ति अर्थात् जमीन-जायदाद, बहुमूल्य धातुएं, धन-धान्य, पशु एवं अन्य वस्तुओं की एक सीमा-रेखा निश्चित करे और उसका अतिक्रमण नहीं करे। व्यक्ति में संग्रह की स्वाभाविक प्रवृत्ति है और किसी सीमा तक गृहस्थ जीवन में संग्रह आवश्यक भी है, किंतु यदि संग्रह वृत्ति को नियंत्रित नहीं किया जाएगा तो समाज में गरीब और अमीर के बीच की खाई अधिक गहरी होगी और वर्ग संघर्ष अपरिहार्य हो जाएगा। परिग्रह परिमाणव्रत इसी संग्रहवृत्ति को नियंत्रित करता है और आर्थिक वैषम्य का समाधान प्रस्तुत करता है। यद्यपि प्राचीन ग्रंथों में इस संबंध में कोई सीमा तय नहीं की गई है। उसे व्यक्ति के स्व-विवेक पर छोड़ दिया गया था, किंतु आधुनिक संदर्भ में हमें व्यक्ति की आवश्यकता और राष्ट्र की संपन्नता के आधार पर संपत्ति या परिग्रह की कोई सीमा निर्धारित करनी होगी। यही एक ऐसा उपाय है जिससे गरीब और अमीर के बीच की खाई को पाटा जा सकता है।

यह भय निरर्थक है कि इच्छा परिमाण से आर्थिक प्रगति प्रभावित होगी। जैन धर्म अर्जन का उस स्थिति में विरोधी है जबकि उसके साथ हिंसा और शोषण की बुराइयां जुड़ती हैं। हमारा आदर्श है—सौ हाथ से इकट्ठा करो और हजार हाथों में बांट दो। गृहस्थ अर्थोपार्जन करे, किंतु वह संग्रह के लिए और स्वयं के भोग के लिए नहीं हो, अपितु उसका उपयोग लोकमंगल के लिए और दीन-दुखियों की सेवा में हो। इस प्रकार उपभोक्तावाद से उत्पन्न आर्थिक विषमता की समस्या के समाधान में इस व्रत की उपयोगिता निर्विवाद है। यदि हम आज इसे स्वेच्छा से नहीं अपनाते हैं, तो या तो शासन इसके लिए बाध्य करेगा या फिर अभावग्रस्त वर्ग हमसे छीन लेगा। अतः समय रहते हमें सचेत हो जाना चाहिए।

उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत :

व्यक्ति की भोगवृत्ति पर अंकुश लगाना ही इस व्रत का मूल उद्देश्य है। इस व्रत के अंतर्गत श्रावक (गृहस्थ) को अपने दैनंदिन जीवन के उपभोग की प्रत्येक वस्तु की संख्या, मात्रा आदि निर्धारित करनी होती है। जैसे वह कौन-सा मंजन करेगा? रोटी, चावल, दाल, सब्जी, फल, मिष्टान्न आदि का जो उपभोग करेगा, उसकी मात्रा क्या होगी? उसके वस्त्र, जूते, शय्या आदि किस प्रकार के और कितने होंगे? वस्तुतः इस व्रत के माध्यम से उसकी भोगवृत्ति को संयमित कर उसके जीवन को सात्त्विक और सादा बनाने का प्रयास किया गया है। जिसकी उपयोगिता को कोई भी विचारशील व्यक्ति अस्वीकार नहीं करेगा। आज जब मनुष्य उपभोक्तावाद (निरंकुश भोग-वासना) में आकंठ डूबता जा रहा है, इन व्रतों का महत्त्व स्पष्ट है।

जैन आचार्यों ने उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत के माध्यम से यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि गृहस्थ उपासक को किन साधनों द्वारा अपनी आजीविका का उपार्जन करना चाहिए और किन संसाधनों से आजीविका का उपार्जन नहीं करना चाहिए। गृहस्थ उपासक के लिए निम्नलिखित पंद्रह प्रकार के व्यवसायों से आजीविका अर्जित करना निषिद्ध माना गया है। ये हैं—

1. वनों में आग लगाकर कृषि योग्य भूमि तैयार करना, 2. जंगल कटवाने का व्यवसाय, 3. बैलगाड़ी, रथ आदि बनाकर बेचने का व्यवसाय, 4. बैल, अश्व आदि पशुओं को किराए पर चलाने का व्यवसाय, 5. खान खोदने का व्यवसाय, 6. हाथी-दांत आदि हड्डी का व्यवसाय तथा चमड़े व सींग के व्यवसाय, 7. लाख का व्यवसाय, 8. मद्य, मांस, मधु आदि के व्यवसाय, 9. विभिन्न प्रकार के विषों का व्यवसाय, 10. बालों एवं रोम युक्त चमड़े का व्यापार, 11. यंत्र, सांच, कोल्हू आदि का व्यापार, अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार, 12. बैल आदि पशुओं को नपुंसक बनाने का व्यवसाय, 13. जंगल में आग लगाने का व्यवसाय, 14. तालाब, झील और सरोवर आदि को सुखाना, 15. व्यभिचार वृत्ति के लिए वेश्या आदि को नियुक्त कर उनके द्वारा धनोपार्जन करवाना।

वर्तमान समय में उपभोक्तावाद के परिणामस्वरूप व्यवसाय के ऐसे बहुत-से रूप सामने आए हैं जो अधिक अनैतिक, हिंसक और पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले हैं। इस संदर्भ में पर्याप्त विचार-विमर्श कर निषिद्ध व्यवसायों की कोई नवीन सूची भी तैयार की जा सकती है।

वस्तुतः परिग्रह परिमाण और उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत आर्थिक समता और धन के समवितरण के संबंध में एक सुव्यवस्थित सामाजिक व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं, जो व्यक्ति और समाज के सर्वांगीण विकास की अवधारणा पर आधारित है। इन व्रतों के संबंध में अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं, यथा—संपत्ति के परिग्रह और आर्थिक गतिविधियों के विस्तार की सीमा क्या होनी चाहिए? इनका निर्धारण कौन करेगा? परिग्रह और उपभोग-परिभोग का परिमाण करने से

शेष पृष्ठ 36 पर

भक्ति और प्रेम के द्वारा मनुष्य निःस्वार्थ हो जाता है। आदमी के मन में जब भी किसी व्यक्ति या आदर्श के प्रति प्रेम और भक्ति उपजती है, तब ठीक उसी अनुपात में स्वार्थपरता का ह्रास होता है। प्रेमाभ्यास से मनुष्य क्रमशः सभी संकीर्णताओं के ऊपर उठकर विश्व में लीन हो सकता है। इसी से प्रेम, भक्ति या श्रद्धा, इनमें से किसी को भी चित्त में लाना आवश्यक है। मनुष्य जैसा सोचता है वैसा हो जाता है। अपने को 'दुर्बल, पापी' जो सोचते हैं, वे क्रमशः दुर्बल, पापी हो जाते हैं; जो अपने को शक्तिशाली और पवित्र मानते हैं, वे शक्तिशाली और पवित्र हो उठते हैं—'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'।

—**सुभाषचंद्र बोस**

अनुभूति

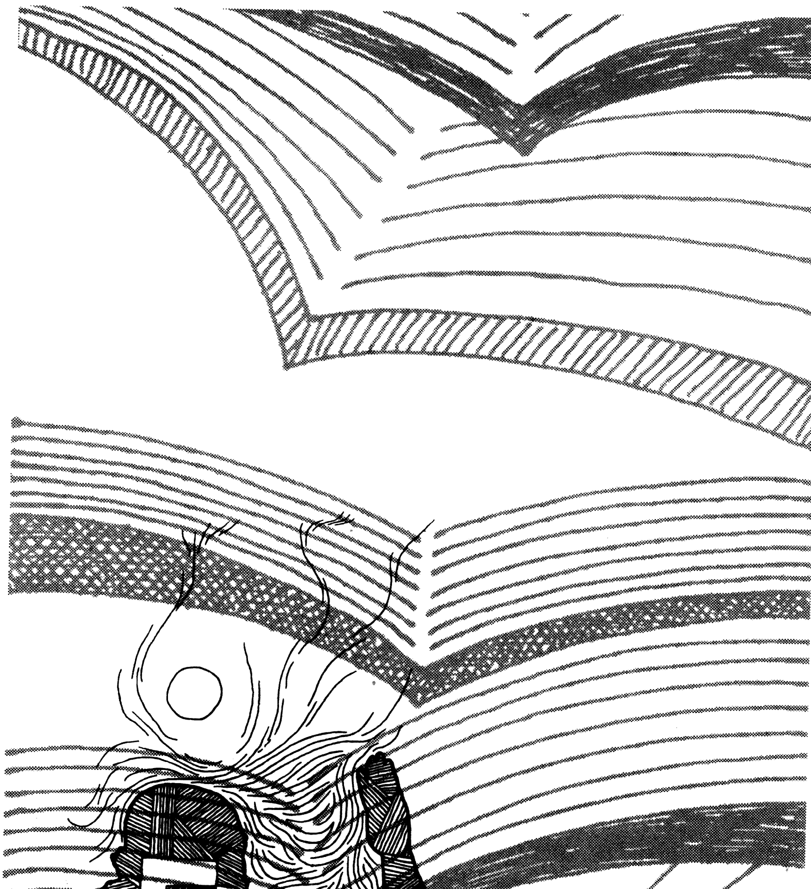

संस्कारों के मंत्राक्षर अंकित हैं अंतःकरण में

❑ साध्वी कनकश्री ❑

मनुष्य ने जब से समूह में रहना सीखा—उसने नियंत्रण, अनुशासन और सीमा-रेखाओं का भी निर्माण किया। जैसे-जैसे उसने विकास की दिशा में चरणन्यास किया—उन सीमाओं, मर्यादाओं की उपयोगिता अधिक समझ में आने लगी। परिवार हो या समाज, राजनीति हो या धर्मनीति, जाति-समुदाय हो या धार्मिक संगठन—अनुशासन, मर्यादा के खाद-पानी के बिना उनके पनपने और फलने की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

जैन और बौद्ध साहित्य में भगवान महावीर और तथागत बुद्ध के लिए 'शास्ता' शब्द का प्रयोग हुआ है। वे विशाल धर्मसंघों के नेता थे। शासन उनका था, वे 'शास्ता' थे—'शासनात् त्रायते इति शासनम्'—जो शासन के द्वारा त्राण—सुरक्षा प्रदान करता है, वही शासन कहलाता है। शासन बाहर से भी आता है और भीतर से भी प्रस्फुटित होता है। धर्म-साधना का मूल आधार है—आत्मानुशासन। साधना जब सामुदायिक या संघबद्ध होती है, तब साधकों का समूह धर्मसंघ में बदल जाता है। साधकों की विभिन्न भूमिकाओं को देखते हुए उसमें अनुशासन भी अपेक्षित होता है। अनुशासन, व्यवस्था और मर्यादा—ये संघबद्धता के अनिवार्य तत्त्व हैं। धर्मसंघों के विकास का आधार भी अनुशासन है। तेरापंथ धर्मसंघ इसका एक जीवंत उदाहरण है।

> ‘ *मर्यादा महोत्सव का एक अतिभव्य, नयनाभिराम या रोमांचक दृश्य होता है—बड़ी हाजरी का। उसमें सब साधु-साध्वियां दीक्षा क्रम से पंक्तिबद्ध खड़े होते हैं और संविधान-पत्र का समवेत स्वरों में उच्चारण करते हैं। आचार्य इस हाज़री के केंद्र में रहते हैं। उनको तथा विराट् धर्म-परिषद् को घेर कर धवलिमा बिखेरती वृत्ताकार वह कतार ऐसी लगती है, मानो धर्म और अध्यात्म की सुरक्षा प्रहरी धवल वाहिनी ने संपूर्ण आत्मविश्वास के साथ अपना मोर्चा संभाल लिया है। अध्यात्म-चेतना या मानवता की सुरक्षा का मजबूत परकोटा बन गया है—ऐसा प्रतीत होता है। इसके पश्चात् आचार्यश्री के निर्देशानुसार समस्त साधु-साध्वियां आचार, मर्यादा, अनुशासन, संघ व संघपति के प्रति अपनी अगाध आस्था अभिव्यक्त करते हैं।* ’

मर्यादा : तेरापंथ की भाग्यरेखाएं

जैन शासन का विकासमान संस्करण है—तेरापंथ। यह आकार में छोटा है, किंतु प्रकार में बड़ा है। ऐसा क्यों? इसलिए कि इसका प्राण-केंद्र अनुशासन है। तेरापंथ का उद्‌भव 245 वर्ष पूर्व हुआ था। इसके संस्थापक थे—आचार्यश्री भिक्षु। वे अनुशासन के सूत्रधार थे। मर्यादा के मंत्रदाता थे। उनमें संगठन की अद्‌भुत क्षमता थी। उन्होंने अपनी समकालीन परिस्थितियों में संगठन के जो मंत्र दिए, वे आज भी उपयोगी हैं और शताब्दियों बाद भी उनका मूल्य कम नहीं होगा। आचार्य भिक्षु महान आध्यात्मिक संत थे, फिर भी संगठन का जितना मूल्यांकन उन्होंने किया, वैसा विगत शताब्दियों में कम आचार्यों, मनीषियों ने किया। भिक्षु धर्म-क्रांति के मसीहा थे। धर्म-संस्थानों व संघों में धर्म के नाम पर जो विकृतियां आ गई थीं—यश, पद, सत्ता और सुविधावादी मनोवृत्ति के कारण साधु-संस्थाएं जिस गति से निस्तेज और प्रभावहीन हो रही थीं—उसके संशोधन और परिष्कार हेतु संत भिक्षु ने एक क्रांतिकारी अभियान छेड़ा। तेरापंथ उसी की निष्पत्ति है। आचार्य भिक्षु को समकालीन साधु-संस्थाओं की दुर्व्यवस्थाओं एवं दुर्बलताओं का

अनुभव था। उनके मन में नवोदित धर्मसंघ को अनुशासित, संयमित और प्रशिक्षित करने का संकल्प जागा। इसके लिए उन्होंने 15 वर्षों तक कठोर तप तपा, साधना की धूनी रमाई।

राजस्थान का कांठा प्रदेश, जोधपुर संभाग, धम्मगिरी पर्वत की तलहटी में बसा उस समय का समृद्ध कस्बा सिरियारी, उसके परिसर से बहती तपस्विनी नदी, गर्मी के दिनों में उस नदी का सूखा, रेतीला चर—इसे भिक्षु ने अपनी तपस्थली के रूप में चुना। एकांतर उपवास, आतापना और ध्यान-साधना के प्रयोगों से उनकी प्रज्ञा जागी। अध्यात्म का तेज प्रकट हुआ। अलौकिक अनुभव संपदा से उनका अणु-अणु उद्‌भासित हो उठा।

धर्मसंघ की एकता, अखंडता और पवित्रता बनाए रखने के लिए उन्होंने कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय में विधि-निषेधपरक निर्देश दिए। उन्होंने उसे मर्यादा का नाम दिया। अनुभवों की स्याही और पुरुषार्थ की कलम से उकेरी गई मर्यादा की वे रेखाएं तेरापंथ धर्मसंघ की भाग्यरेखाएं बन गईं। इन मर्यादाओं को आज की भाषा में तेरापंथ धर्मसंघ का संविधान कहा जा सकता है। भिक्षु द्वारा लिखित तेरापंथ का संविधान-पत्र आज भी सुरक्षित है—जिसने इक्कीसवीं सदी के तेरापंथ को भी आस्था, विश्वास, विनय और समर्पण के भावनात्मक सूत्र में बांध रखा है। आचार्य भिक्षु मर्यादा पुरुषोत्तम थे। मर्यादाओं का निर्माता वही बन सकता है—जो अनुशासन-बल, सिद्धांत-बल, अध्यात्म-बल, मनोबल एवं समाधान-बल से संपन्न हो। भिक्षु के व्यक्तित्व में इन पांचों बलों का विलक्षण योग था। चित्त की निर्मलता, लक्ष्य के प्रति दृढ़ता, सत्य के प्रति विनम्रता, साधना पथ में निर्भयता, दृष्टि की असंकीर्णता—ये ऐसी दुर्लभ विशिष्टताएं थीं, जिनके कारण भिक्षु धार्मिक जगत में अपनी कोटि के एक विलक्षण संत कहलाए गए। जिनकी वाणी और वाङ्‌मय में शाश्वत सत्य का संगान था।

संघ समर्थ और शक्तिशाली तब बनता है—जब समर्थ, सक्षम व्यक्तित्व उसके साथ जुड़ते हैं। क्षमता हो और महत्त्वाकांक्षा न पनपे, यह कठिन है, पर संघीय जीवन में यह काम्य नहीं है। इससे संगठन कमजोर होता है। तेरापंथ में अनेक सक्षम व्यक्तित्व उभरे, किंतु महत्त्वाकांक्षा को पनपने का अवसर नहीं मिला। आचार्य भिक्षु ने कहा—अपनी क्षमताओं को जगाओ, पर महत्त्वाकांक्षी मत बनो। उन्होंने एक व्यवस्था सूत्र दिया—'संघ का कोई भी साधु और साध्वी अपना शिष्य या शिष्या नहीं बनाए। पद के लिए उम्मीदवार न बने।'

यह व्यवस्था धर्मसंघों के इतिहास में सर्वथा नयी थी। इसने नयी दिशा का उद्‌घाटन किया। इससे पद की भूख का उपचार हो गया। शिष्य ही नहीं बनाना है तो गुरु बनने का मूल्य ही क्या? तेरापंथ में शिष्य बनाने और आचार्य पद पर नियुक्ति करने का अधिकार एकमात्र आचार्य के हाथों में सुरक्षित है। इससे अयोग्य दीक्षा और अयोग्य हाथों में प्रशासन की बागडोर आना—ये दोनों ही समस्याएं समाहित हो गईं। तेरापंथ की शासन प्रणाली न एकतंत्रीय है, न प्रजातंत्रीय। यह गुरुतंत्रीय शासन प्रणाली से संचालित है। इसीलिए यह घोष जन-जन के मुख पर मुखरित है—'तेरापंथ की क्या पहचान? एक गुरु और एक विधान।'

तेरापंथ और मर्यादा महोत्सव

तेरापंथ की स्थापना वि.सं. 1817 आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा के दिन हुई थी। पंद्रह वर्ष की विशिष्ट साधना और अनुभवों के आधार पर आचार्य भिक्षु ने वि.सं. 1832 मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी को सर्वप्रथम एक मर्यादा-पत्र (लिखत) लिखा। वह तेरापंथ के संविधान निर्माण का प्रथम दिन था। उसके पश्चात् अट्ठाईस वर्षों तक अपेक्षानुसार समय-समय पर अनेक धाराएं लिखी गईं। भिक्षु-कृत संविधान की संपूर्ति का अंतिम दिन है वि.सं. 1859, माघ शुक्ला सप्तमी। इस दिन को निमित्त बनाकर तेरापंथ के चतुर्थ अधिशास्ता श्रीमज्जयाचार्य ने वि.सं. 1921 से मर्यादाओं का पर्व मनाना प्रारंभ किया। धर्मसंघों एवं जन-जीवन में मर्यादा की मूल्य-प्रतिष्ठा करने हेतु मनाया जाने वाला यह पर्व मर्यादा महोत्सव के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। माघ महीने में आयोजित होने के कारण यह माघ महोत्सव या माघोत्सव भी कहलाता है। वि.सं. 2021 में युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी ने मर्यादा महोत्सव की उद्‌गम्‌स्थली बालोतरा में मर्यादा महोत्सव शताब्दी समारोह मनाया था।

मर्यादा महोत्सव एक अनूठा उत्सव है। तेरापंथ की गतिविधियों का नाभि-केंद्र है। मर्यादा महोत्सव का केंद्रीय विराट् आयोजन संघ के अधिशास्ता की पावन सन्निधि में समायोजित होता है। इसकी पृष्ठभूमि चातुर्मास की समाप्ति के साथ ही शुरू हो जाती है। प्रस्तुत वर्ष का मर्यादा महोत्सव कहां मनाना है, यह घोषणा आचार्यप्रवर द्वारा काफी समय पहले ही हो जाती है। देश-विदेश में विहार और धर्म-प्रचार करने वाले सैकड़ों साधु-साध्वियां और समण-समणियां महोत्सव स्थल पर गुरु-सन्निधि में पहुंच जाते हैं। गुरु-दर्शन करते ही अग्रगण्य साधु-साध्वियां स्वयं

के पद को और सहयोगी साधु-साध्वियों को गुरु-चरणों में समर्पित कर देते हैं और संघ-समंदर में स्वयं को विलीन कर विराटता का अनुभव करते हैं।

मर्यादा महोत्सव तेरापंथ का महाकुंभ है। सामान्यतः दो महीने की अवधि में शिक्षण-प्रशिक्षण, प्रेरणा-प्रोत्साहन, अतीत की उपलब्धियों का विहंगावलोकन, भावी कार्यक्रमों का निर्धारण आदि अनेक रचनात्मक प्रवृत्तियां चलती हैं। सब साधु-साध्वियां अपने वार्षिक कार्यक्रमों और उपलब्धियों का लिखित और मौखिक विवरण प्रतिवेदित करते हैं। श्रेष्ठ कार्यों के लिए गुरु द्वारा विशेष प्रोत्साहन मिलता है। कहीं किसी का प्रमाद, मर्यादा के अतिक्रमण का प्रसंग उपस्थित होता है, तो उसका प्रतिकार होता है। संघ की यह स्पष्ट नीति है कि किसी की कोई गलती हो, तो उसको न छुपाओ, न फैलाओ, किंतु उसका सम्यक् परिमार्जन करो, प्रतिकार करो।

मर्यादा महोत्सव का एक अतिभव्य, नयनाभिराम या रोमांचक दृश्य होता है—बड़ी हाजरी का। उसमें सब साधु-साध्वियां दीक्षा क्रम से पंक्तिबद्ध खड़े होते हैं और संविधान-पत्र का समवेत स्वरों में उच्चारण करते हैं। आचार्य इस हाजरी के केंद्र में रहते हैं। उनको तथा विराट् धर्म-परिषद् को घेर कर धवलिमा बिखेरती वृत्ताकार वह कतार ऐसी लगती है, मानो धर्म और अध्यात्म की सुरक्षा प्रहरी धवल वाहिनी ने संपूर्ण आत्मविश्वास के साथ अपना मोर्चा संभाल लिया है। अध्यात्म-चेतना या मानवता की सुरक्षा का मजबूत परकोटा बन गया है—ऐसा प्रतीत होता है। इसके पश्चात् आचार्यश्री के निर्देशानुसार समस्त साधु-साध्वियां आचार, मर्यादा, अनुशासन, संघ व संघपति के प्रति अपनी अगाध आस्था अभिव्यक्त करते हैं।

तेरापंथ धर्मसंघ तेजस्वी संघ है। यह तैजस की आराधना का केंद्र है। उसकी तेजस्विता के स्रोत हैं—आत्मानुशासन, आत्म-नियंत्रण और आत्म-संयम की प्रबल भावना। एक आचार, एक विचार और एक समाचारी के लिए तेरापंथ प्रख्यात है। वही संघ स्वस्थ और चिरंजीवी होता है—जिसका प्रत्येक सदस्य स्वस्थ-संतुष्ट हो, प्रसन्न हो। मर्यादाओं के निर्माण के पीछे आचार्यश्री भिक्षु का यही पवित्र दृष्टिकोण रहा था। उन्होंने लिखा—'न्याय, संविभाग और समभाव की वृद्धि के लिए मैंने ये मर्यादाएं लिखी हैं।' आपसी कलह और सौहार्द की कमी संगठन की जड़ों को कमजोर बनाते हैं। भिक्षु की मर्यादाओं और व्यवस्थाओं का ही प्रभाव है कि तेरापंथ संघ में कलह, घरेलू झगड़े पनप भी नहीं सकते। तेरापंथ में गुरु-शिष्यों का संबंध अनुपम है। वे विनय और वात्सल्य भाव के सुदृढ़ स्तंभ पर टिके हुए हैं। साधु-साध्वियों का विनय, समर्पण, श्रद्धा, भक्ति और अहंकार-ममकार से मुक्त संयमी जीवन जन-जन के लिए आकर्षण का विषय है। इसका कारण है—आज्ञा, मर्यादा, अनुशासन और गुरु-निष्ठा उनके रोम-रोम में, श्वास-प्रश्वास में रमी हुई है।

श्रीराम द्वारा लंका-विजय के अभिक्रम में सेतु निर्माण का कार्य गति पर था। वानरों द्वारा फेंका गया हर पत्थर समुद्र पर तैर रहा था, क्योंकि समुद्र में फेंके जा रहे प्रत्येक छोटे-बड़े पाषाण पर राम-नाम अंकित था। श्रीराम ने सोचा, जब मेरे नाम से पत्थर पानी पर तैर रहे हैं तो स्वयं मेरे हाथों से फेंका गया पत्थर तो जरूर तैरेगा। राम ने समुद्र में पत्थर डालने शुरू किए। किंतु यह क्या ? राम के हाथों प्रक्षिप्त सारे पत्थर पानी के तल में जा रहे थे। डूब रहे थे। आश्चर्य के साथ राम ने वानर सेना की ओर निहारा। वानरगण ने कहा—'महाराज! यही तो रहस्य है, जो राम-नाम का सहारा ले लेता है, वह समस्याओं के उफनते सागर को भी पार कर लेता है। किंतु, जो आपके हाथ से छूट जाता है—वह डूब जाता है।' तेरापंथ धर्मसंघ के प्रत्येक सदस्य के अंतःकरण में ऐसे ही संस्कारों के मंत्राक्षर अंकित हैं कि मर्यादा-अनुशासन की सीमा में रहने वाला विकास की अमाप ऊंचाइयों का स्पर्श कर लेता है और जो मर्यादा से मुक्त होने का प्रयत्न करता है—वह पतन के द्वार खोल लेता है।

तेरापंथ धर्मसंघ का मर्यादा महोत्सव मात्र मेला ही नहीं है। सैकड़ों प्रबुद्ध साधु-साध्वियों का मिलन, संघीय इतिहास में श्री-स्वस्ति का उद्घोषक बनता है। वह मात्र आयोजनात्मक ही नहीं, संघ के फलक पर सृजनशीलता के नए अभिलेख अंकित करता है। महोत्सव के समय ऐसा लगता है, मानो नवनिर्माण के कलश छलक रहे हैं। उद्यम के असंख्य दीप एक साथ प्रज्वलित हो रहे हैं। हर मन उत्साह से भरा हुआ, हर आंख अग्रिम वर्ष की कल्पनाशीलता पर टिकी हुई और हर चरण स्फूर्ति से भरा हुआ प्रतीत होता है। यह महापर्व पारस्परिक संबंधों को प्रगाढ़ता प्रदान करता है। उनमें अंतरंगता लाता है। अनेकता में एकता का बोध कराता है। मर्यादा महोत्सव संघीय चेतना का अदृश्य वाहक है। इसमें वैयक्तिक और संघीय गति, प्रगति एवं शक्ति निहित है। स्वयं को समग्र के प्रति समर्पित करने का अनूठा महोत्सव है यह। इसका संदेश है—स्वयं को अनुशासित करो, प्रकाशित करो और दूसरों को प्रेरणा दो। अपेक्षा है—एक धर्मसंघ में मनाया जाने वाला यह अनूठा पर्व समग्र मानवता का उत्सव बने। ❖

मेरा अहिंसक समाज : कुछ बिंब

❑ रमेश थानवी ❑

जिस समाज में मैं जन्मा, पला और बड़ा हुआ, वह समाज मूलतया एक अहिंसक समाज है। पूरी तरह से अहिंसक। आचार, विचार और अपने चिंतन में सदा अहिंसक। ऐसा लगता है जैसे इस समाज के जर्रे-जर्रे को करुणा, दया, मैत्री और स्नेह से ऐसे सींचा गया है कि यह किसी के प्रति कभी हिंसक हो ही नहीं सकता। अपने ही समाज के इस व्यवहार ने मुझे सदा संस्कारित, शिक्षित एवं दीक्षित किया है। किसी बालक को अहिंसा में दीक्षित करने के इससे अधिक जीवंत एवं प्रभावी तरीके शायद अन्य समाजों में उपलब्ध नहीं हैं। इनकी कई प्रकार से व्याख्या की जा सकती है। साथ ही इनके विशद् अध्ययन के बाद अहिंसा के एक समग्र समाज-शास्त्र की रचना भी की जा सकती है। मुझे व्याख्या से अधिक प्रभावी लगते हैं वे तमाम चाक्षुष बिंब जो बचपन से अब तक मेरे स्मृति संसार के अभिन्न अंग रहे हैं। मैं उन्हीं बिंबों का दिग्दर्शन कर लेना पर्याप्त समझता हूं। ये बिंब ही एक अहिंसक समाज के आंतरिक आग्रहों और मर्यादाओं को स्वयं विवेचित करते चलते हैं।

'अपने ही समाज के इस व्यवहार ने मुझे सदा संस्कारित, शिक्षित एवं दीक्षित किया है। किसी बालक को अहिंसा में दीक्षित करने के इससे अधिक जीवंत एवं प्रभावी तरीके शायद अन्य समाजों में उपलब्ध नहीं हैं। इनकी कई प्रकार से व्याख्या की जा सकती है। साथ ही इनके विशद् अध्ययन के बाद अहिंसा के एक समग्र समाज-शास्त्र की रचना भी की जा सकती है। मुझे व्याख्या से अधिक प्रभावी लगते हैं वे तमाम चाक्षुष बिंब जो बचपन से अब तक मेरे स्मृति संसार के अभिन्न अंग रहे हैं। मैं उन्हीं बिंबों का दिग्दर्शन कर लेना पर्याप्त समझता हूं। ये बिंब ही एक अहिंसक समाज के आंतरिक आग्रहों और मर्यादाओं को स्वयं विवेचित करते चलते हैं।'

बिंब एक :

बात बचपन की है। पिता की अंगुली पकड़ कर पिता के ही साथ गांव के बाहर दूर किसी कुएं पर स्नान करने को जाता हूं। पिता कुएं से पानी सींचते हैं। कुआं लगभग तीन सौ फीट गहरा है। डोली लोहे की बनी है। उसमें भी भार है। पानी से भर जाने के बाद वह और भारी हो जाती है। पिता डोली से पानी निकाल कर बाल्टी भरते हैं। कुछ पानी डोली में बचाए रखते हैं, उसे वापस कुएं में डाल देते हैं। मैं चौंक जाता हूं कि इतनी मेहनत के बाद जो पानी निकाला गया, उसे वापस कुएं में क्यों डाल दिया गया! तब मुझे कुछ भी नहीं सूझा था, सिर्फ कुतूहल जागा था मन में। आज जब मुड़ कर देखता हूं तो समझ पाता हूं कि आवश्यकता से अधिक न लेने का आग्रह मेरे पिता का स्वभाव बन चुका था। ईशावास्य उपनिषद वहां व्यवहार का अभिन्न अंग बन गया था। आज तक यह बिंब मन से मिटा नहीं है। नए संदर्भों में इसके अर्थ और भी गहरे हैं। पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि क्या कहता है यह बिंब?

बिंब दो :

आखातीज आ रही है। घर में तैयारी चल रही है। मां और बड़ी मां दोनों खीच छड़ने को बैठती हैं। मैं देखता हूं कि वे सिर पर बोर बांधती हैं। सिर ढकती हैं। ओखली पर कुमकुम की टीकी लगाती हैं और ओखली के बाहर कुछ अक्षत रख देती हैं। फिर वे मूसल की पूजा करती हैं। उस पर मौली बांधती हैं और फिर खीच कूटने बैठती हैं। हमारे घर में इसे कूटना नहीं कहा जाता, छड़ना कहा जाता है। **छड़ना**

स्थानीय भाषा का शब्द रहा है। कालांतर में इस क्रिया ने हिंदी में भी अपना स्थान बना लिया है। संभवतया छड़ी से बना होगा यह शब्द। गीली छड़ी की चोट में कठोरता कम होती है। ओखली और मूसल की उपासना के बाद खीच छड़ने का यह उपक्रम इस मंगल कामना के साथ प्रारंभ होता था कि अनाज छड़ा तो जाए, मगर वह अक्षत बना रहे। साथ ही इस क्षमायाचना के साथ भी शुरू होता था यह काम, कि अन्न देवता क्षमा करें कि उन्हें मूसल की चोट पहुंचाई जा रही है। एक तरफ ओखली, दूसरी तरफ मूसल, तीसरी तरफ छड़ने का काम और फिर भी यह साधना कि अनाज अक्षत बना रहे। यह एक आंखों देखा सच है।

इस बिंब ने मेरी संवेदनाओं को सींचा है। मेरे पोर-पोर में उस स्निग्धता को पिरोया है, जो मेरी मां के हाथ और मूसल के बीच पूरी जीवंतता के साथ रची-बसी थी। यह बिंब मेरे मानस पटल पर अमिट है और रहेगा। व्याख्या की कोशिश में कई पन्ने भरे जा सकते हैं, मगर इससे जो मिला है, वह अनिर्वचनीय है।

बिंब तीन :

बरसात का मौसम शुरू होने वाला है। आंगन में चींटियां निकलने लगी हैं। दादी कभी उन चींटियों के मार्ग को मोड़ देने के लिए राख की एक रेखा बना देती हैं। मन में कुछ बोलती हुई चींटियों से कहती है कि 'तुमको राम-लक्ष्मण की कार है'। कभी यह कार हल्दी से काढ़ दी जाती है। चींटियां अपने मार्ग पर चली जाती हैं। यह जान जाती हैं कि इस घर में चूल्हा जलता है, इस घर में हल्दी का उपयोग करने वाले गृहस्थी लोग बसते हैं। मेरे बचपन के किसी भी दिन में चींटियों के लिए 'डी.डी.टी.', 'फिनायल' या किसी दूसरी दवा के उपयोग का स्मरण नहीं है। इसके विपरीत घर से बाहर दूर 'कीड़ी-नगरे' को आटे से सींचने के दैनिक कर्म का स्मरण अवश्य है। व्यवहार में उतारे गए सहजीवन का यह एक जीता-जागता सबूत है। पाठक इस बिंब में घरों और चींटियों के बीच पलते स्नेह-संबंधों की कोई गाथा पढ़ सकते हैं।

बिंब चार :

हम गांव में हैं। सुबह-सुबह खबर आती है कि कहीं कोई गाय मर गई है। दादी लपक कर उठती है और 'परींडे' की मटकियों को ऊनी कलतान से ढक देती हैं। एक बार सहसा घर में मातम का वातावरण बन जाता है और ऐसा लगता है जैसे घर को ही सूतक लग गया है। मुझसे कोई कुछ कहता तो नहीं, मगर सुबह का दूध और सुबह की चाय को मां मुल्तवी कर देती हैं। पता किया जाता है कि गाय उठ गई कि नहीं? उसके उठ जाने के बाद नहाने-धोने और पूजा-पाठ के काम में सब व्यस्त हो जाते हैं। लगता है कि गाय किसी की भी हो, गांव के हर परिवार का उसके साथ एक आत्मीय रिश्ता है। बात बचपन की है, मगर आज भी ताजा है। इसलिए भी कि ऐसा एक बार नहीं हुआ था।

बिंब पांच :

घर में बछबारस के व्रत का उत्सव है। औपचारिक नहीं, अत्यंत सहज, मगर पूरी तैयारी के साथ। माटी का चूल्हा जलाया जाता है और लोहे का चूल्हा रसोई से बाहर निकाल दिया जाता है। उसे धो कर एक तरफ रख दिया जाता है। माटी का तवा भी निकाला जाता है। रसोई में रखे लोहे के चाकूओं को मांजकर दूर रख दिया जाता है। चाय बनाने के लिए भैंस के दूध का इंतजाम किया जाता है। साग सुधारने के लिए पीतल की एक थाली निकाली जाती है। उसी में साग सुधारा जाता है। ये सारी तैयारियां 'वत्स' के प्रति स्नेहिल बने रहने की तैयारियां हैं। जीवन में ममता को धारण करने की तैयारियां हैं। मेरा बचपन ऐसे कई बिंबों, रीति-रिवाजों एवं संस्कारित करने वाले अत्यंत सहज उपक्रमों से सींचा जाता रहा है।

लोहे के प्रति इस तिरस्कार के बारे में मैंने कई बार, कई लोगों से पूछा है। लोहा हिंसा का प्रतीक रहा है, हमारे समाज में। इससे शस्त्र बनते हैं। **इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परौ** के भजन में से **बधिक परौ** का भाव ही रचा-बसा रहा है मेरे समाज में। घर में कभी लोहे के घड़ों में पानी भी नहीं भरा गया। ध्यान देने की बात यह है कि बनती कोशिश कुएं से पीने का पानी भी कभी लोहे की डोली से नहीं सींचा जाता था। कपड़े की डोली होती थी, जिसके ऊपर-नीचे बेंत की (लकड़ी की) पिरगियां लगी होती थी। इस डोली से सींचा गया पानी पीने के काम आता था और लोहे की डोली से सींचा गया पानी नहाने-धोने, लीपने-पोतने के काम आता था। यह मेरे समाज में स्निग्धता को धारण किए रहने का एक आवश्यक प्रयत्न था।

पानी का तो एक दूसरा भेद भी किया जाता रहा है। **चम-जल** और **ब्रह्म-जल** का भेद। यह भेद भी अहिंसा को धारण करने का प्रयत्न था। **चम-जल** वह होता था जो चमड़े के चड़स से सींचा जाता था। **ब्रह्म-जल** वह होता था जो कपड़े (मोमजामे) के चड़स से सींचा जाता था। ऊंटों पर पानी

ढोने की पखालों में भी यही भेद था। चमड़े की बनी पखालों का पानी पीने के काम नहीं लिया जाता था। वह **चम-जल** कहलाता था। पानी के प्रति शुचिता का यह भाव भी मन में अहिंसा की प्रतिष्ठा का एक प्रयत्न था। मरे जानवर की खाल से जल को न छूने का यह सहज व्यवहार जानवरों को न मारने का संदेश भी देता था और साथ ही शाकाहारी बने रहने का भी। जो समाज **चम-जल** को पीने के लिए भी ऐसी वर्जना पालता हो, वह भला मांसाहारी कैसे हो सकता है?

पानी के प्रति आदर का एक और उदाहरण यह है कि मेरे परंपरागत समाज में स्नान करते समय कोई भी स्त्री-पुरुष कभी निर्वस्त्र नहीं होते थे। जल के प्रति यह आदर वरुण देवता अथवा **आपो देवता** के प्रति आदर है। इस प्रकार पानी को सम्मान देने वाला समाज भला पानी का अपव्यय कैसे कर सकता है?

बचपन की ये स्मृतियां बताती हैं कि वो समाज—जहां मैं जन्मा, पला और बड़ा हुआ, वह अत्यंत सुकोमल एवं सहृदय समाज रहा है। यह समाज अपने व्यवहार और वाणी के प्रति भी सदा सजग रहा है। यहां किसी को 'रेकारा' या 'तूकारा' देने की भी मुमानिअत रही है। परस्पर पर्याप्त सम्मान और प्रेम के वातावरण में सहजीवन की साधना इसे सदा वरेण्य रही है।

भाषा के प्रति यह समाज सदा सजग रहा है। साग यहां सुधारा जाता रहा है। यहां पर सब्जी कभी काटी नहीं जाती। नारियल यहां बधारा जाता है, कभी फोड़ा नहीं जाता। दूकान यहां बढ़ाई जाती है, कभी बंद नहीं की जाती। दीया यहां बढ़ाया जाता है, कभी बुझाया नहीं जाता। कितना ही अनपढ़ और निरक्षर रहा हो यह समाज, मगर यह सदा दीप प्रज्वलित करने का आराधक रहा है। जन्मदिन जैसे शुभ दिन पर भी मोमबत्तियां बुझाने का हामी नहीं रहा यह समाज। घर से कोई कहीं जाता है तो वह सिधाता है। अगर पूछना भी है तो यह पूछा जाता है कि—'सिध जा रहे हो', अथवा कहां सिधा रहे हो? शब्द के इस प्रयोग में ही मंजिल तक पहुंच जाने की शुभकामना और काम के सिद्ध होने की मंगलकामना छिपी हुई है।

भाषा में प्रयुक्त अहिंसा और सुकोमल सावधानी का एक उदाहरण इसी लेख में ऊपर देखें—कुएं से पानी निकालने के लिए मैंने **सींचना** शब्द का प्रयोग किया है। यह प्रयोग मेरे परंपरागत अहिंसक समाज की ही देन है। आज का शहरी समाज इसे **खींचना, निकालना** कहेगा। मगर पुरातन प्रयोग सींचना ही है। यहां लेते हुए भी निरंतर देने का भाव विद्यमान था। देना कुएं को भी, अपने को भी, खेत को भी, चिड़ियों और पशुओं को भी और धरती को भी। इस प्रकार के व्यवहार का मूर्त रूप थी—रहट की **माळ**, जो कुएं से पानी सींचने के काम आती थी। रहट की **माळ** के हर जल-पात्र में नीचे छेद होता था। आज भी होता है। जल पात्रों की पूरी माला कुएं से जल लेकर निरंतर कुएं को वापिस देती हुई आती है ऊपर। यही **तेन त्यक्तेन भुंजीथा** का व्यवहारगत उदाहरण है। लेकर देना या त्याग कर भोग करना हमारे हर व्यवहार को एक स्निग्ध सौष्ठव देता है। ऐसा समाज भला कभी हिंसक कैसे हो सकता है? लोभी या दंभी कैसे हो सकता है?

और इसी समाज में जब कहीं हिंसा नजर आती है तो मन झुंझलाहट से भर जाता है, क्षुब्ध हो उठता है तब यह मन। ❖

उपभोक्तावाद की मुक्ति में है निरापद आर्थिक विकास पृष्ठ 28 का शेष

आर्थिक विकास अवरुद्ध तो नहीं हो जाएगा? अतः इन शंकाओं के संदर्भ में परिग्रह परिमाणव्रत और उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत पर पुनर्विचार करना प्रासंगिक होगा। साथ ही उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर खोजकर इन व्रतों की व्यवस्था को सामाजिक स्तर पर क्रियान्वित करने के लिए इसे व्यावहारिक रूप प्रदान करने में मनीषियों, अध्यात्मपुरुषों व बुद्धिजीवियों की भूमिका विशेष रूप से आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हो जाती है। परंतु एक बात सार्वभौमिक रूप से सत्य है कि आर्थिक विकास मूल्य-आधारित व्यवस्था के अंतर्गत होना चाहिए। अन्यथा व्यक्ति और समाज इस कथित विकास से उत्पन्न समस्याओं से ही उलझ कर रह जाएगा। मानवीय कल्याण को केंद्र में रखकर ही निरापद या निर्दोष आर्थिक विकास संभव है। ❖

संदर्भ :

1. Government of India, Economic Survey, 1997-98 (Delhi), Table 1.1, P. S-3
2. डॉ. रामजीसिंह, गांधी-दर्शन-मीमांसा, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृष्ठ 32
3. संदीप साईकष्ण, वैश्वीकरण की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का विकल्प : एकात्मवाद, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 145
4. वही, पृष्ठ 145
5. डॉ. एम.सी. वैश्य एवं डॉ. एस.सी. शर्मा, आर्थिक विचारों का इतिहास, रतन प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 472 ❖❖

आध्यात्मिक संगठन और मर्यादा

❑ मुनि राकेशकुमार ❑

मर्यादा और विधि-कानून—दोनों का लक्ष्य अनुशासन की प्रतिष्ठा है, पर दोनों की पृष्ठभूमि में बहुत अंतर है। मर्यादा का जन्म जहां श्रद्धा और अंतःभावना की उर्वर भूमि में होता है और स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है, वहीं कानून बाहर से थोपा जाता है और उसमें भय तथा दबाव का भाव निहित रहता है। सामान्य दृष्टि में यह लग सकता है कि मर्यादा और कानून का समान रूप होता है, जबकि दोनों के आधार सर्वथा भिन्न होते हैं।

मर्यादा का प्रासाद सदैव आध्यात्मिक धरातल पर ही अवस्थित हो सकता है। उसका लक्ष्य पवित्र और स्व-कल्याण होता है। उसमें किसी प्रकार के छद्म का कभी अवकाश ही नहीं रहता। अध्यात्म के अभाव में मर्यादा भी कथित 'कानून' का रूप ले लेती है। तब उसका अभीप्सित परिणाम उपलब्ध नहीं हो सकता।

आध्यात्मिक जगत के लिए मर्यादा और मर्यादापूर्वक व्यवस्थाओं की क्या जरूरत है? यदा-कदा इस तरह का प्रश्न उत्पन्न होता रहता है। मर्यादा पुरुषोत्तम आचार्य भिक्षु ने इसका उत्तर दिया है। उन्होंने लिखा है—'मैंने न्याय, समभाव और समविभाग की स्थापना के लिए मर्यादाओं का निर्माण किया है। धर्मसंघ के हर सदस्य को न्याय और समविभाग मिले—यह साधना की दृष्टि से जरूरी है। धर्मसंघ का हर घटक त्याग और संयम के संस्कारों से ओतःप्रोत हो, उसकी पवित्र प्रतिमा पर मैं और मेरेपन की कलुषित छाया अंकित न हो।'

> *'आग्रह और अधिकार की भावना मुक्ति और स्वतंत्रता के विकास में बाधक है। जैन साधुओं के लिए धन-वैभव व भूमि जैसे परिग्रह के अधिकार का तो प्रश्न ही नहीं होता, पर शिष्य-प्रथा के रूप में परिग्रह भावना की संभावना तो हो ही सकती है। आचार्य भिक्षु ने कुछ परंपराओं में इसके कटु और निराशाजनक परिणाम देखे थे। इसलिए उन्होंने मर्यादा का निर्माण कर शिष्य-प्रथा को खत्म किया। उन्होंने कहा—व्यक्तिवाद, स्वार्थवाद और अधिकारवाद की वृत्तियां धर्मसंघ में उचित नहीं हैं। आचार्य भिक्षु का चिंतन कितना सूक्ष्म और निर्मल था—इससे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है।'*

तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्यश्री भिक्षु सिद्धांतनिष्ठ आदर्श-परायण महापुरुष थे। किसी पंथ और संप्रदाय के प्रवर्तन की उनकी कोई कल्पना ही नहीं थी। उनके तपःपूत चरणों के प्रभाव से मार्गवर्ती अवरोध दूर हो गए और एक अनुपम पथ का निर्माण हो गया। साधुत्व का प्राणतत्त्व महाव्रतों की साधना में है। फिर भी संघीय स्वरूप व जीवन को व्यवस्थित और अनुशासित रूप देने, छद्मस्थता के कारण होने वाली स्खलनाओं और त्रुटियों का निरोध करने के लिए मर्यादाओं की अपेक्षा रहती है। इसीलिए आचार्य भिक्षु ने अपने आध्यात्मिक संगठन का प्रारंभ ही अनुशासन से किया। अपने संघ के साधु-साध्वी व श्रावक-श्राविकाओं की जीवनधारा को मर्यादा के तटों से आबद्ध कर दिया।

आचार्य भिक्षु का जीवन श्रद्धा और संकल्प तथा शक्ति और भक्ति का अद्‌भुत संगम स्थल था। यह बहुधा दृष्टिगोचर होता है कि संकल्प और पुरुषार्थ-प्रधान मनुष्य की प्रकृति में अहं

की ग्रंथि प्रबल हो जाती है। लेकिन, आचार्य भिक्षु वज्र संकल्पी होकर भी उनका मानस वीतराग और तीर्थंकर के प्रति श्रद्धारस से ओत-प्रोत था। तेरह की संख्या के आधार पर जोधपुर में एक भोजक कवि ने उनकी धार्मिक परंपरा का नामकरण तेरापंथ कर दिया। वे उस समय वहां नहीं थे। जब उन्हें इस प्रसंग की सूचना मिली तो उन्होंने तेरापंथ का अर्थ संख्यापरक नहीं कर, श्रद्धापरक कर दिया। उन्होंने कहा—'हे प्रभो! यह तेरा पंथ है, हम आपके पदचिह्नों के अनुयाई हैं।' उन्होंने अपने धर्मसंघ को अधिकारवाद की मनोवृत्ति से दूर रहने की सरल प्रेरणा प्रदान की।

आचार्य भिक्षु द्वारा निदेशित मर्यादाओं का पारिवारिक और सामाजिक जीवन में अनुसरण किया जाए तो वर्तमान की अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है। आज चारों ओर जो बिखराव, टकराव और तनाव दृष्टिगत हो रहा है, वे स्वतः शांत हो जाएंगे। इसलिए इन मर्यादाओं का आध्यात्मिक जीवन के लिए जितना महत्त्व है, उतना ही व्यावहारिक जीवन के लिए भी है।

तेरापंथ धर्मसंघ के इतिहास में अनेक त्यागी और निष्पृह व्यक्तित्व हुए हैं। जिन्होंने उपरोक्त मर्यादाओं पर चलकर अनेक अनुपम और उज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत किए हैं। मुनिश्री खेतसीजी का उनमें प्रमुख नाम है। तेरापंथ के द्वितीय आचार्यश्री भारीमलजी ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में मुनिश्री खेतसीजी और मुनिश्री रायचंदजी के दो नाम लिखे। बाद में मुनिश्री खेतसीजी का नाम नहीं रहा। मुनिश्री रायचंदजी को भावी आचार्य के रूप में घोषित किया गया। मुनिश्री खेतसीजी का मानस दोनों ही स्थितियों में समान और संतुलित था। युवाचार्य पद के पत्र में नाम लिखने पर उनके मानस में उत्कर्ष का भाव नहीं था और नाम नहीं रहने पर अपकर्ष का भाव नहीं था। समता योग की शाब्दिक परिभाषा और व्याख्या करने वाले बहुत व्यक्ति मिल सकते हैं, पर अपने जीवन-व्यवहार की स्याही से उसकी व्याख्या लिखने वाले मुनिश्री खेतसीजी विरले-जनों की श्रेणी में आते हैं।

साधु के लिए साधुत्व का पद ही महत्त्वपूर्ण होता है। किसी भी पद-प्रतिष्ठा की कामना उनकी साधना में बाधा और विक्षेप उत्पन्न करती है। आचार्य भिक्षु ने इसी दृष्टि से मर्यादाओं का निर्माण किया था। साधना के लिए अप्रतिबद्धता का अभ्यास आवश्यक है। तेरापंथ के संविधान में अप्रतिबद्धता के संस्कार और व्यवहार पर विशेष बल दिया गया है। कोई भी साधु-साध्वी स्वेच्छा से कहीं पर चातुर्मास नहीं कर सकते। इसी प्रकार श्रावक संघ भी किसी साधु-साध्वी का नाम लेकर पावस के लिए निवेदन नहीं कर सकते। आचार्य भिक्षु ने लिखा—साधु-साध्वियां किसी गांव और नगर में रहें तो समग्रता से रहें और विहार करें तो समग्रता से करें। किसी भी प्रकार की व्यग्रता उचित नहीं है। प्रतिबद्धता से व्यग्रता उत्पन्न होती है।

आग्रह और अधिकार की भावना मुक्ति और स्वतंत्रता के विकास में बाधक है। जैन साधुओं के लिए धन-वैभव व भूमि जैसे परिग्रह के अधिकार का तो प्रश्न ही नहीं होता, पर शिष्य-प्रथा के रूप में परिग्रह भावना की संभावना तो हो ही सकती है। आचार्य भिक्षु ने कुछ परंपराओं में इसके कटु और निराशाजनक परिणाम देखे थे। इसलिए उन्होंने मर्यादा का निर्माण कर शिष्य-प्रथा को खत्म किया। उन्होंने कहा—व्यक्तिवाद, स्वार्थवाद और अधिकारवाद की वृत्तियां धर्मसंघ में उचित नहीं हैं। आचार्य भिक्षु का चिंतन कितना सूक्ष्म और निर्मल था—इससे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है।

किसी वस्तु को अधिकार में रखने वाला, ममत्व के धागे से उसे बांधने वाला स्वयं ही बंध जाता है। एक महात्मा जंगल में जा रहे थे। मार्ग में गाय की रस्सी पकड़े एक ग्वाला मिल गया। महात्मा ने पूछा—'गाय तुम्हारे से बंधी हुई है, या तुम गाय से बंधे हो?' ग्वाले ने कहा—'गाय मेरे से बंधी हुई है, इसकी रस्सी मेरे हाथ में है।' महात्मा ने कहा—'एक बार रस्सी छोड़ो। यदि गाय तुम्हारे से बंधी है तो वह तुम्हारी ओर दौड़ेगी और यदि तुम उससे बंधे हो तो तुम उसकी ओर दौड़ोगे।' अनपढ़ ग्वाला महात्मा के कहने का मर्म भले न समझ सका हो, पर यह निर्विवाद तथ्य है कि परिग्रही व्यक्ति दूसरे को बांधने के भ्रम पाले होता है। वस्तुतः वह अपने ही लिए बंधन का जाल बुनता है।

आचार्य भिक्षु से किसी ने पूछा—'आपका पंथ कितने समय तक चलेगा?' उन्होंने कहा—'जब तक पंथ पर चलने वाले मर्यादा के पालन में जागरूक रहेंगे, तब तक धर्मसंघ की भागीरथी का पवित्र स्रोत अजस्र गति से बहता रहेगा।' तेरापंथ की वर्णमाला का हर शब्द अध्यात्म की पवित्र भावनाओं से उद्भूत हुआ है। इसकी मर्यादाओं का महत्त्व भूतकाल में भी था, वर्तमान में भी है और भविष्य में भी रहेगा। हमारी चिंतन-धारा में अद्भुत और अप्रत्याशित परिवर्तन विश्व क्षितिज पर दृष्टिगोचर हुए हैं, पर उनकी महत्ता और प्रासंगिकता के स्वर लाखों कंठों से प्रतिध्वनित हो रहे हैं। जैन-अजैन सभी संप्रदायों के मनीषी जन इन मर्यादाओं और इनके निर्माता के प्रति नतमस्तक हैं। ❖

कहानी

दोपहर का भोजन

❑ अमरकान्त ❑

सिद्धेश्वरी ने खाना बनाने के बाद चूल्हे को बुझा दिया और दोनों घुटनों के बीच सिर रखकर शायद पैर की उंगलियां या जमीन पर चलते चींटे-चींटियों को देखने लगी। अचानक उसे मालूम हुआ कि बहुत देर से उसे प्यास लगी है। वह मतवाले की तरह उठी और गगरे से लोटा-भर पानी लेकर गट-गट चढ़ा गई। खाली पानी उसके कलेजे में लग गया और वह 'हाय राम' कहकर वहीं जमीन पर लेट गई।

आधे घंटे तक वहीं उसी तरह पड़ी रहने के बाद उसके जी में जी आया। वह बैठ गई, आंखों को मल-मलकर इधर-उधर देखा और फिर उसकी दृष्टि ओसारे में अध-टूटे खटोले पर सोए अपने छह-वर्षीय लड़के प्रमोद पर जम गई। लड़का नंग-धड़ंग पड़ा था। उसके गले तथा छाती की हड्डियां साफ दिखाई देती थीं। उसके हाथ-पैर बासी ककड़ियों की तरह सूखे तथा बेजान पड़े थे और उसका पेट हंडिया की तरह फूला हुआ था। उसका मुख खुला हुआ था और उस पर अनगिनत मक्खियां उड़ रही थीं।

वह उठी, बच्चे के मुंह पर अपना एक फटा, गंदा ब्लाउज डाल दिया और एक-आध मिनट सुन्न खड़ी रहने के बाद बाहर दरवाजे पर जाकर किवाड़ की आड़ से गली निहारने लगी। बारह बज चुके थे। धूप अत्यंत तेज थी और कभी एक-दो व्यक्ति सिर पर तौलिया या गमछा रखे हुए या मजबूती से छाता ताने हुए फुर्ती के साथ लपकते हुए-से गुजर जाते।

दस-पंद्रह मिनट तक वह उसी तरह खड़ी रही, फिर उसके चेहरे पर व्यग्रता फैल गई और उसने आसमान तथा कड़ी धूप की ओर चिंता से देखा। एक-दो क्षण बाद उसने सिर को किवाड़ से काफी आगे बढ़ाकर गली के छोर की तरफ निहारा, तो उसका बड़ा लड़का रामचंद्र धीरे-धीरे घर की ओर सरकता नजर आया।

उसने फुर्ती से एक लोटा पानी ओसारे की चौकी के पास नीचे रख दिया और चौके में जाकर खाने के स्थान को जल्दी-जल्दी पानी से लीपने-पोतने लगी। वहां पीढ़ा रखकर उसने सिर को दरवाजे की ओर घुमाया ही था कि रामचंद्र ने अंदर कदम रखा।

रामचंद्र आकर धम-से चौकी पर बैठ गया और फिर वहीं बेजान-सा लेट गया। उसका मुंह लाल तथा चढ़ा हुआ था, उसके बाल अस्त-व्यस्त थे और उसके फटे-पुराने जूतों पर गर्द जमी हुई थी।

सिद्धेश्वरी की पहले हिम्मत नहीं हुई कि उसके पास आए और वहीं से वह भयभीत हिरनी की भांति सिर

> *सिद्धेश्वरी पर जैसे नशा चढ़ गया था। उन्माद की रोगिणी की भांति बड़बड़ाने लगी, 'पागल नहीं है, बड़ा होशियार है। उस जमाने का कोई महात्मा है। मोहन तो उसकी बड़ी इज्जत करता है। आज कह रहा था कि भैया की शहर में बड़ी इज्जत होती है, पढ़ने-लिखनेवालों में बड़ा आदर होता है और बड़का तो छोटे भाइयों पर जान देता है। दुनिया में वह सब-कुछ सह सकता है, पर यह नहीं देख सकता कि उसके प्रमोद को कुछ हो जाए।'*
>
> × × ×
>
> *मुंशीजी दाल-लगे हाथ को चाट रहे थे। उन्होंने सामने की ताक की ओर देखते हुए हंसकर कहा, 'बड़का का दिमाग तो खैर काफी तेज है, वैसे लड़कपन में नटखट भी था। हमेशा खेल-कूद में लगा रहता था, लेकिन यह भी बात थी कि जो सबक मैं उसे याद करने को देता था, उसे बर्राक रखता था। असल तो यह कि तीनों लड़के काफी होशियार हैं। प्रमोद को कम समझती हो?' यह कहकर वह अचानक जोर से हंस पड़े।*

उचका-घुमाकर बेटे को व्यग्रता से निहारती रही। किंतु, लगभग दस मिनट बीतने के पश्चात् भी जब रामचंद्र नहीं उठा, तो वह घबरा गई। पास जाकर पुकारा—'बड़कू, बड़कू!' लेकिन उसके कुछ उत्तर न देने पर डर गई और लड़के की नाक के पास हाथ रख दिया। सांस ठीक से चल रही थी। फिर सिर पर हाथ रखकर देखा, बुखार नहीं था। हाथ के स्पर्श से रामचंद्र ने आंखें खोलीं। पहले उसने मां की ओर सुस्त नजरों से देखा, फिर झट-से उठ बैठा। जूते निकालने और नीचे रखे लोटे के जल से हाथ-पैर धोने के बाद वह यंत्र की तरह चौकी पर आकर बैठ गया।

सिद्धेश्वरी ने डरते-डरते पूछा, 'खाना तैयार है। यहीं लगाऊं क्या?'

रामचंद्र ने उठते हुए प्रश्न किया, 'बाबूजी खा चुके?'

सिद्धेश्वरी ने चौके की ओर भागते हुए उत्तर दिया, 'आते ही होंगे।'

रामचंद्र पीढ़े पर बैठ गया। उसकी उम्र लगभग इक्कीस वर्ष की थी। लंबा, दुबला-पतला, गोरा रंग, बड़ी-बड़ी आंखें तथा होंठों पर झुर्रियां।

वह एक स्थानीय दैनिक समाचार पत्र के दफ्तर में अपनी तबीयत से प्रूफरीडरी का काम सीखता था। पिछले साल ही उसने इंटर पास किया था।

सिद्धेश्वरी ने खाने की थाली सामने लाकर रख दी और पास ही बैठकर पंखा करने लगी। रामचंद्र ने खाने की ओर दार्शनिक की भांति देखा। कुल दो रोटियां, भर-कटोरा पनियाई दाल और चने की तली तरकारी।

रामचंद्र ने रोटी के प्रथम टुकड़े को निगलते हुए पूछा, 'मोहन कहां है? बड़ी कड़ी धूप हो रही है।'

मोहन सिद्धेश्वरी का मंझला लड़का था। उम्र अट्ठारह वर्ष थी और वह इस साल हाईस्कूल का प्राइवेट इम्तहान देने की तैयारी कर रहा था। वह न मालूम कब से घर से गायब था और सिद्धेश्वरी को स्वयं पता नहीं था कि वह कहां गया है।

किंतु सच बोलने की उसकी तबीयत नहीं हुई और झूठ-मूठ उसने कहा, 'किसी लड़के के यहां पढ़ने गया है, आता ही होगा। दिमाग उसका बड़ा तेज है और उसकी तबीयत चौबीस घंटे पढ़ने में ही लगी रहती है। हमेशा उसी की बात करता रहता है।'

रामचंद्र ने कुछ नहीं कहा। एक टुकड़ा मुंह में रखकर भरा गिलास पानी पी गया, फिर खाने लग गया। वह काफी छोटे-छोटे टुकड़े तोड़कर उन्हें धीरे-धीरे चबा रहा था।

सिद्धेश्वरी भय तथा आतंक से अपने बेटे को एकटक निहार रही थी। कुछ क्षण बीतने के बाद डरते-डरते उसने पूछा, 'वहां कुछ हुआ क्या?'

रामचंद्र ने अपनी बड़ी-बड़ी भावहीन आंखों से अपनी मां को देखा, फिर नीचा सिर करके कुछ रूखाई से बोला, 'समय आने पर सब ठीक हो जाएगा।'

सिद्धेश्वरी चुप रही। धूप और तेज होती जा रही थी। छोटे आंगन के ऊपर आसमान में बादल में एक-दो टुकड़े पाल की नावों की तरह तैर रहे थे। बाहर की गली से गुजरते हुए एक खड़खड़िया इक्के की आवाज आ रही थी और खटोले पर सोए बालक की सांस का खर-खर शब्द सुनाई दे रहा था।

रामचंद्र ने अचानक चुप्पी को भंग करते हुए पूछा, 'प्रमोद खा चुका?'

सिद्धेश्वरी ने प्रमोद की ओर देखते हुए उदास स्वर में उत्तर दिया, 'हां, खा चुका।'

'रोया तो नहीं था?'

सिद्धेश्वरी फिर झूठ बोल गई, 'आज तो सचमुच नहीं रोया। वह बड़ा ही होशियार हो गया है। कहता था, बड़का भैया के यहां जाऊंगा। ऐसा लड़का...'

पर वह आगे कुछ न बोल सकी, जैसे उसके गले में कुछ अटक गया। कल प्रमोद ने रेवड़ी खाने की जिद पकड़ ली थी और उसके लिए डेढ़ घंटे तक रोने के बाद सोया था।

रामचंद्र ने कुछ आश्चर्य के साथ अपनी मां की ओर देखा और फिर सिर नीचा करके कुछ तेजी से खाने लगा।

थाली में जब रोटी का केवल एक टुकड़ा शेष रह गया, तो सिद्धेश्वरी ने उठने का उपक्रम करते हुए प्रश्न किया, 'एक रोटी और लाती हूं?'

रामचंद्र हाथ से मना करते हुए हड़बड़ाकर बोल पड़ा, 'नहीं-नहीं, जरा भी नहीं। मेरा पेट पहले ही भर चुका है। मैं तो यह भी छोड़नेवाला हूं। बस, अब नहीं।'

सिद्धेश्वरी ने जिद की, 'अच्छा, आधी ही सही।'

रामचंद्र बिगड़ उठा, 'अधिक खिलाकर बीमार डालने की तबीयत है क्या? तुम लोग जरा भी नहीं सोचती हो। बस, अपनी जिद। भूख रहती तो क्या ले नहीं लेता?'

सिद्धेश्वरी जहां-की-तहां बैठी ही रह गई। रामचंद्र ने थाली में बचे टुकड़े से हाथ खींच लिया और लोटे की ओर देखते हुए कहा, 'पानी लाओ।'

सिद्धेश्वरी लोटा लेकर पानी लेने चली गई। रामचंद्र ने कटोरे को उंगलियों से बजाया, फिर हाथ को थाली में रख दिया। एक-दो क्षण बाद रोटी के टुकड़े को धीरे-से हाथ से उठाकर आंख से निहारा और अंत में इधर-उधर देखने के बाद टुकड़े को मुंह में इस सरलता से रख लिया, जैसे वह भोजन का ग्रास न होकर पान का बीड़ा हो।

मंझला लड़का मोहन आते ही हाथ-पैर धोकर पीढ़े पर बैठ गया। वह कुछ सांवला था और उसकी आंखें छोटी थीं। उसके चेहरे पर चेचक के दाग थे। वह अपने भाई ही की तरह दुबला-पतला था, किंतु उतना लंबा न था। वह उम्र की अपेक्षा कहीं अधिक गंभीर और उदास दिखाई पड़ रहा था।

सिद्धेश्वरी ने उसके सामने थाली रखते हुए प्रश्न किया, 'कहां रह गए थे बेटा? भैया पूछ रहा था।'

मोहन ने रोटी के एक बड़े ग्रास को निगलने की कोशिश करते हुए अस्वाभाविक मोटे स्वर में जवाब दिया, 'कहीं तो नहीं गया था। यहीं पर था।'

सिद्धेश्वरी वहीं बैठकर पंखा डुलाती हुई इस तरह बोली, जैसे स्वप्न में बड़बड़ा रही हो, 'बड़का तुम्हारी बड़ी तारीफ कर रहा था। कह रहा था, मोहन बड़ा दिमागी होगा, उसकी तबीयत चौबीसों घंटे पढ़ने में ही लगी रहती है।' यह कहकर उसने अपने मंझले लड़के की ओर इस तरह देखा, जैसे उसने कोई चोरी की हो।

मोहन अपनी मां की ओर देखकर फीकी हंसी हंस पड़ा और फिर खाने में जुट गया। वह परोसी गई दो रोटियों में से एक रोटी कटोरे की तीन-चौथाई दाल तथा अधिकांश तरकारी साफ कर चुका था।

सिद्धेश्वरी की समझ में नहीं आया कि वह क्या करे। इन दोनों लड़कों से उसे बहुत डर लगता था। अचानक उसकी आंखें भर आईं। वह दूसरी ओर देखने लगी।

थोड़ी देर बाद उसने मोहन की ओर मुंह फेरा, तो लड़का लगभग खाना समाप्त कर चुका था।

सिद्धेश्वरी ने चौंकते हुए पूछा, 'एक रोटी देती हूं?'

मोहन ने रसोई की ओर रहस्यमय नेत्रों से देखा, फिर सुस्त स्वर में बोला, 'नहीं।'

सिद्धेश्वरी ने गिड़गिड़ाते हुए कहा, 'नहीं बेटा, मेरी कसम, थोड़ी ही ले लो। तुम्हारे भैया ने एक रोटी ली थी।'

मोहन ने अपनी मां को गौर से देखा, फिर धीरे-धीरे इस तरह उत्तर दिया, जैसे कोई शिक्षक अपने शिष्य को समझाता है, 'नहीं रे, बस, अव्वल तो अब भूख नहीं। फिर रोटियां तूने ऐसी बनाई हैं कि खाई नहीं जातीं। न मालूम कैसी लग रही हैं। खैर, अगर तू चाहती ही है, तो कटोरे में थोड़ी दाल दे दे। दाल बड़ी अच्छी बनी है।'

सिद्धेश्वरी से कुछ कहते न बना और उसने कटोरे को दाल से भर दिया।

मोहन कटोरे को मुंह से लगाकर सुड़-सुड़ पी रहा था कि मुंशी चंद्रिकाप्रसाद जूतों को खस-खस घसीटते हुए आए और राम का नाम लेकर चौकी पर बैठ गए। सिद्धेश्वरी ने माथे पर साड़ी को कुछ नीचे खिसका लिया और मोहन दाल को एक सांस में पीकर तथा पानी के लोटे को हाथ में लेकर तेजी से बाहर चला गया।

दो रोटियां, कटोरा-भर दाल, चने की तली तरकारी। मुंशी चंद्रिकाप्रसाद पीढ़े पर पालथी मारकर बैठे रोटी के एक-एक ग्रास को इस तरह चुभला-चबा रहे थे, जैसे बूढ़ी गाय जुगाली करती है। उनकी उम्र पैंतालीस वर्ष के लगभग थी, किंतु पचास-पचपन के लगते थे। शरीर का चमड़ा झूलने लगा था, गंजी खोपड़ी आईने की भांति चमक रही थी। गंदी धोती के ऊपर अपेक्षाकृत कुछ साफ बनियान तार-तार लटक रही थी।

मुंशीजी ने कटोरे को हाथ में लेकर दाल को थोड़ा सुड़कते हुए पूछा, 'बड़का दिखाई नहीं दे रहा?'

सिद्धेश्वरी की समझ में नहीं आ रहा था कि उसके दिल में क्या हो गया है—जैसे कुछ काट रहा हो। पंखे को जरा और जोर से घुमाती हुई बोली, 'अभी-अभी खाकर काम पर गया है। कह रहा था, कुछ दिनों में नौकरी लग जाएगी। हमेशा, 'बाबूजी, बाबूजी' किए रहता है। बोला, बाबूजी देवता के समान हैं।'

मुंशीजी के चेहरे पर कुछ चमक आई। शरमाते हुए पूछा, 'ऐं, क्या कहता था कि बाबूजी देवता के समान हैं? बड़ा पागल है।'

सिद्धेश्वरी पर जैसे नशा चढ़ गया था। उन्माद की रोगिणी की भांति बड़बड़ाने लगी, 'पागल नहीं है, बड़ा होशियार है। उस जमाने का कोई महात्मा है। मोहन तो

उसकी बड़ी इज्जत करता है। आज कह रहा था कि भैया की शहर में बड़ी इज्जत होती है, पढ़ने-लिखनेवालों में बड़ा आदर होता है और बड़का तो छोटे भाइयों पर जान देता है। दुनिया में वह सब-कुछ सह सकता है, पर यह नहीं देख सकता कि उसके प्रमोद को कुछ हो जाए।'

मुंशीजी दाल-लगे हाथ को चाट रहे थे। उन्होंने सामने की ताक की ओर देखते हुए हंसकर कहा, 'बड़का का दिमाग तो खैर काफी तेज है, वैसे लड़कपन में नटखट भी था। हमेशा खेल-कूद में लगा रहता था, लेकिन यह भी बात थी कि जो सबक मैं उसे याद करने को देता था, उसे बर्राक रखता था। असल तो यह कि तीनों लड़के काफी होशियार हैं। प्रमोद को कम समझती हो?' यह कहकर वह अचानक जोर से हंस पड़े।

मुंशीजी डेढ़ रोटी खा चुकने के बाद एक ग्रास से युद्ध कर रहे थे। कठिनाई होने पर एक गिलास पानी चढ़ा गए। फिर खर-खर खांसकर खाने लगे।

फिर चुप्पी छा गई। दूर से किसी आटे की चक्की की पुक-पुक आवाज सुनाई दे रही थी और पास ही नीम के पेड़ पर बैठा कोई पंडुक लगातार बोल रहा था।

सिद्धेश्वरी की समझ में नहीं आ रहा था कि क्या कहे। वह चाहती थी कि सभी चीजें ठीक से पूछ ले। सभी चीजें ठीक से जान ले और दुनिया की हर चीज पर पहले की तरह धड़ल्ले से बात करे। पर उसकी हिम्मत नहीं होती थी। उसके दिल में जाने कैसा भय समाया हुआ था।

अब मुंशीजी इस तरह चुपचाप दुबके हुए खा रहे थे, जैसे पिछले दो दिनों से मौन-व्रत धारण कर रखा हो और उसको कहीं जाकर आज शाम को तोड़ने वाले हों।

सिद्धेश्वरी से जैसे नहीं रहा गया। बोली, 'मालूम होता है, अब बारिश नहीं होगी।'

मुंशीजी ने एक क्षण के लिए इधर-उधर देखा, फिर निर्विकार स्वर में राय दी, 'मक्खियां बहुत हो गई हैं।'

सिद्धेश्वरी ने उत्सुकता प्रकट की, 'फूफाजी बीमार हैं, कोई समाचार नहीं आया।'

मुंशीजी ने चने के दानों की ओर इस दिलचस्पी से दृष्टिपात किया, जैसे उनसे बातचीत करने वाले हों। फिर सूचना दी, 'गंगाशरण बाबू की लड़की की शादी तय हो गई। लड़का एम.ए. पास है।'

सिद्धेश्वरी हठात् चुप हो गई। मुंशीजी भी आगे कुछ नहीं बोले। उनका खाना समाप्त हो गया था और वे थाली में बचे-खुचे दानों को बंदर की तरह बीन रहे थे।

सिद्धेश्वरी ने पूछा, 'बड़का की कसम, एक रोटी देती हूं। अभी बहुत-सी हैं।'

मुंशीजी ने पत्नी की ओर अपराधी के समान तथा रसोई की ओर कनखी से देखा, तत्पश्चात् किसी छंटे उस्ताद की भांति बोले, 'रोटी? रहने दो, पेट काफी भर चुका है। अन्न और नमकीन चीजों से तबीयत ऊब भी गई है। तुमने व्यर्थ में कसम धरा दी। खैर, कसम रखने के लिए ले रहा हूं। गुड़ होगा क्या?'

सिद्धेश्वरी ने बताया कि हंडिया में थोड़ा-सा गुड़ है।

मुंशीजी ने उत्साह के साथ कहा, 'तो थोड़े गुड़ का ठंडा रस बनाओ, पीऊंगा। तुम्हारी कसम भी रह जाएगी, जायका भी बदल जाएगा, साथ-ही-साथ हाजमा भी दुरुस्त होगा। हां, रोटी खाते-खाते नाक में दम आ गया है।' यह कहकर वे ठहाका मारकर हंस पड़े।

मुंशीजी के निबटने के पश्चात् सिद्धेश्वरी उनकी जूठी थाली लेकर चौके की जमीन पर बैठ गई। बटलोई की दाल को कटोरे में उड़ेल दिया, पर वह पूरा भरा नहीं। छिपुली में थोड़ी-सी चने की तरकारी बची थी, उसे पास खींच लिया। रोटियों की थाली को भी उसने पास खींच लिया। उसमें केवल एक रोटी बची थी। मोटी-भद्दी और जली उस रोटी को वह जूठी थाली में रखने जा रही थी कि अचानक उसका ध्यान ओसारे में सोए प्रमोद की ओर आकर्षित हो गया। उसने लड़के को कुछ देर तक एकटक देखा, फिर रोटी को दो बराबर टुकड़ों में विभाजित कर दिया। एक टुकड़े को तो अलग रख दिया और दूसरे टुकड़े को अपनी जूठी थाली में रख लिया। तदुपरांत एक लोटा पानी लेकर खाने बैठ गई। उसने पहला ग्रास मुंह में रखा और तब न मालूम कहां से उसकी आंखों से टप-टप आंसू चूने लगे।

सारा घर मक्खियों से भनभन कर रहा था। आंगन की अलगनी पर एक गंदी साड़ी टंगी थी, जिसमें पैबंद लगे हुए थे। दोनों बड़े लड़कों का कहीं पता नहीं था। बाहर की कोठरी में मुंशीजी औंधे मुंह होकर निश्चिंतता के साथ सो रहे थे, जैसे डेढ़ महीने पूर्व मकान-किराया-नियंत्रण विभाग की क्लर्की से उनकी छंटनी न हुई हो और शाम को उनको काम की तलाश में कहीं जाना न हो...। ❖

समय ठहरता नहीं
कदम से कदम मिलाकर चलने वाला रहता है गतिशील

❑ सुरेंद्र चौरड़िया ❑

नियति कहें या प्रारब्ध—इनका अपना महत्त्व होता है। जो घटित होना होता है, घटित हो जाता है। चार वर्ष पूर्व अकल्पित रूप से मेरा महासभा का अध्यक्ष बनना भी एक नियति ही थी, या कहें तो मेरा प्रारब्ध। समाज के समक्ष मैं एक नया चेहरा था, फिर भी इतनी बड़ी जिम्मेदारी सौंप दी गई। मैंने कार्यभार संभाला, काम होता चला गया। मुझे लगता था कि कोई शक्ति है जो मुझसे काम ले रही है, मैं केवल निमित्त हूं। ऐसी शक्ति का मुझे निमित्त बनाना मेरे प्रारब्ध के साथ मेरा अहोभाग्य भी था। जब कार्यभार संभाला तो मेरे सामने अनेक चुनौतियां थीं। महासभा की पिछली परिस्थितियों का असर विभिन्न स्तरों पर विद्यमान था। विद्यालय के साथ भवन संबंधी विवाद, महासभा-कोष के सुदृढ़ीकरण की अपेक्षा एवं सुव्यवस्थित कार्यालय की आवश्यकता आदि स्थितियों का सामना करने में मुझे परम श्रद्धेय आचार्यप्रवर से शक्ति और ऊर्जा प्राप्त हुई, जिसके आधार पर हमने कार्य प्रारंभ किया एवं स्थितियां अनुकूल होती गईं।

महासभा में चार वर्ष
अध्यक्षीय आत्मकथन

गत कुछ वर्षों में संगठन महासभा की पहचान बनी है। पदाधिकारियों द्वारा जमीनी कार्यकर्ताओं तक सीधी पहुंच उनकी छिपी शक्तियों को उजागर करने में योगभूत बनी है। वर्ष 2001 में 334 सभाएं महासभा के साथ संबद्ध थीं। यथासंभव सभी तेरापंथी सभाएं महासभा के साथ संबद्ध (एफिलियेटेड) हों, इस हेतु हमने विभिन्न माध्यमों से प्रयास किया एवं अब यह संख्या वर्ष 2005 में 451 तक पहुंची है, जिसे संतोषजनक माना जा सकता है। गत 4 वर्षों में 125 क्षेत्रों की संगठन यात्रा एवं 13 आंचलिक श्रावक सम्मेलनों में लगभग 150 क्षेत्रों की सहभागिता के माध्यम से संगठन को सक्रिय एवं सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया गया। महासभा के आजीवन सदस्यों की संख्या को और व्यापक बनाने का भी क्रम चलाया गया।

युगीन अपेक्षाओं के अनुरूप संगठन को सशक्त और गतिशील बनाने के लिए 'महासभा विजन 2007' की परिकल्पना की गई। इसे संघ और समाज के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए कई प्रमुख क्षेत्रों में इससे संबंधित संगोष्ठियों का आयोजन किया गया एवं इस परिकल्पना को मूर्त रूप देने हेतु सलक्ष्य कार्य किया गया। 'विजन' की क्रियान्विति समन्वित प्रयासों की मांग करती है तथा समन्वित प्रयासों के लिए 'नेटवर्किंग' अपेक्षित होता है। हमने संगठन यात्रा, प्रतिनिधि सम्मेलन, आंचलिक सम्मेलन, पत्राचार, इलेक्ट्रानिक मीडिया का अधिकतम प्रयोग कर हर सभा के साथ व्यापक संपर्क करने का प्रयास किया। इन संपर्कों का ही परिणाम था कि वर्ष 2002 के प्रतिनिधि सम्मेलन में 400 प्रतिनिधि एवं 150 सभाओं की सहभागिता हुई एवं विकासमान क्रम में यह संख्या वर्ष 2005 में बढ़कर 700 प्रतिनिधि व 200 सभाएं हो गई।

कार्यक्रमों की सफल क्रियान्विति हेतु महासभा की प्रशासनिक दक्षता का विकास भी आवश्यक था। सर्वप्रथम महासभा की सुदृढ़ आर्थिक स्थिति के प्रयत्नों को तीव्र किया गया। गतिविधियों के नियमित एवं सुसंचालन की दृष्टि से **स्थाई कोष कूपन अभियान** का श्रीगणेश कर लगभग 45 लाख रुपये की राशि एकत्रित की गई, जिसमें से 40 लाख रुपये विनियोजित हैं।

बदलती अपेक्षाओं के अनुरूप 17 वर्षों के अंतराल के पश्चात् महासभा के संविधान में परिवर्तन भी प्रशासनिक

कार्यों को सुदृढ़ता देने हेतु एक महत्त्वपूर्ण कदम था। महासभा के **लोगो** का कॉपीराइट, पारदर्शिता एवं दक्षता के लिए आंतरिक अंकेक्षक की नियुक्ति आदि भी प्रशासनिक सुधार की दिशा में उठाए गए कुछ महत्त्वपूर्ण कदम थे। महासभा भवन का सुदृढ़ीकरण एवं नवीनीकरण के माध्यम से कायाकल्प हुआ, जो प्रशासनिक परिवेश के लिए मील का पत्थर साबित हुआ। इन सभी प्रयासों का समन्वित एवं सुखद परिणाम **ISO 9001 : 2000** प्रमाण-पत्र है जो महासभा की कार्यप्रणाली में श्रेष्ठता, गुणवत्ता एवं सुव्यवस्था हेतु अंतरराष्ट्रीय संगठन **ISO** द्वारा वर्ष 2004 में प्रदान किया गया। समग्र जैन समाज एवं अन्य धार्मिक संगठनों में संभवतः महासभा प्रथम संस्थान होगा जिसे उसके द्वारा प्रयुक्त कार्यप्रणाली की गुणवत्ता एवं श्रेष्ठता के लिए मूल्यांकित किया गया हो। यह समाज व संघ के लिए सात्त्विक गौरव का विषय है।

महासभा ने गत चार वर्षों में सामाजिक सहृदयता का भी परिचय दिया है। आचार्यश्री तुलसी अमृत महाविद्यालय, गंगापुर के सुचालन हेतु अनुदान, सुनामी लहर आपदा से ग्रस्त मानवता के त्राण के लिए जय तुलसी फाउंडेशन के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रधानमंत्री राहत कोष में समग्र तेरापंथ समाज की ओर से 51 लाख रुपये का सहयोग, अनुशास्ता के सचिवालय का संचालन आदि महत्त्वपूर्ण कदम इस ओर स्पष्ट संकेत करते हैं कि महासभा केवल संगठन, प्रकाशन एवं कतिपय प्रवृत्तियों का ही संचालन नहीं करती, समाज में जब-जब सहयोग की आवश्यकता अनुभव की गई, महासभा ने सहयोग के लिए सदैव अपना हाथ बढ़ाया है। सहयोग की इस तत्परता ने जहां एक ओर संकटग्रस्त मानवता को राहत दी, वहीं पूज्यवरों के नामों से चल रहे संस्थानों को भी सहयोग और आलंबन प्रदान किया। इस रूप में महासभा ने दृष्टि की व्यापकता के साथ हृदय की व्यापकता को भी मूर्त रूप दिया।

जैन विद्वान तैयार करने का स्वप्न पूज्य गणाधिपति तुलसी ने देखा था। श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञजी भी इस ओर सतत सचेत रहे हैं। महासभा द्वारा पूज्यवरों की दृष्टि की आराधना का जीवंत एवं सशक्त प्रमाण **महाप्रज्ञ स्कूल ऑफ फिलासफी एंड रिलीजन** तथा समाजभूषण श्रीचंद रामपुरिया स्मृति व्याख्यानमाला 'बोधि' है। जैन विद्वानों के निर्माण हेतु एम.फिल. कक्षाओं का आयोजन तथा उच्च कोटि के अध्यापक-प्रोफेसरों की सेवाओं का नियोजन आने वाले समय में सार्थक परिणाम प्रस्तुत करेंगे। जैन विद्याओं के व्यापक प्रसार के साथ गंभीर ज्ञान की प्रस्तुति के लिए बोधि व्याख्यानमाला का मासिक आयोजन कोलकाता के बुद्धिजीवियों के आकर्षण का केंद्र बना है। कार्यक्रम में व्यापक उपस्थिति के साथ जिज्ञासा एवं परिचर्चा का क्रम इस कार्यक्रम की मूल्यवत्ता को सिद्ध करता है। इन महत्त्वाकांक्षी परियोजनाओं के लिए समृद्ध ग्रंथालय की अपेक्षा की पूर्ति हेतु महासभा के पुस्तकालय को पूर्णतः नवीनीकृत एवं सुव्यवस्थित कर **भिक्षु ग्रंथागार** के रूप में नामांकित किया गया। दस हजार पुस्तकों एवं बहुमूल्य हस्तलिखित ग्रंथों से सुसज्जित यह पुस्तकालय जैन विद्या की दृष्टि से उपयोगी बन पड़ा है। ग्रंथागार कक्ष में प्राकृत भाषा के प्रारंभिक अध्ययन की कक्षाओं के माध्यम से इसकी उपयोगिता में वृद्धि कर प्रयास किया जा रहा है।

शैक्षणिक गतिविधियों के विस्तार के साथ महासभा के प्रकाशन कार्यों को भी विस्तार मिला। गत चार वर्षों में 50 से भी अधिक कृतियों का प्रकाशन हुआ। प्रकाशित कृतियों में आचार्यप्रवर की 12 कृतियां एवं अहिंसा यात्रा से संबंधित 7 कृतियां भी शामिल हैं। प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाले 'तेरापंथ दिग्दर्शन' को तो संबद्ध सभाओं को निःशुल्क प्रेषित किया जा रहा है। इन प्रकाशनों के अतिरिक्त नौ दशकों के महासभा-इतिहास का प्रकाशन कार्य भी प्रगति पर है। गत 15 वर्षों से प्रतीक्षित लेखन कार्य मुनिश्री सुमेरमलजी (लाडनूं) एवं मुनिश्री उदितकुमारजी के निर्देशन में पूर्ण हुआ। धुरी मर्यादा महोत्सव के अवसर पर इस इतिहास प्रकाशन का लोकार्पण संभावित है। महासभा की गतिविधियों एवं सभाओं की विशिष्ट उपलब्धियों की जानकारी श्रावक समाज तक पहुंचाने की दृष्टि से **अभ्युदय** त्रैमासिक का नियमित प्रकाशन भी पुनः प्रारंभ किया गया है।

नैतिक मूल्यों का विकास—अहिंसा यात्रा का एक लक्ष्य रहा है। इस लक्ष्य की संपूर्ति हेतु महासभा संस्कार निर्माण के गुरुतर दायित्व का निर्वहन ज्ञानशालाओं के माध्यम से कर रही है। वर्ष 2001 में 158 पंजीकृत ज्ञानशालाओं की संख्या वर्ष 2005 में 225 तक पहुंची है। वर्ष 2002 के 11 परीक्षा केंद्रों में 358 परीक्षार्थियों की संख्या बढ़कर वर्ष 2005 में

45 केंद्रों में 622 परीक्षार्थियों की हो गई है। मुनिश्री सुमेरमलजी (लाडनूं) एवं मुनिश्री उदितकुमारजी द्वारा 'ज्ञानशाला प्रारूप' तैयार किया गया, जिसे देश-भर की ज्ञानशालाओं को भेजा गया है। ज्ञानशालाओं के संचालन की एकरूपता की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण कदम था। शिशु संस्कार बोध पुस्तिकाओं का प्रकाशन, प्रशिक्षकों एवं प्रशिक्षणार्थियों के लिए पाठ्यपुस्तकों का सृजन एवं प्रकाशन, सैद्धांतिक प्रशिक्षण के साथ प्रायोगिक प्रशिक्षण का समावेश, बाल संस्कार निर्माण शिविरों का आयोजन आदि संस्कार निर्माण की दिशा में महासभा के प्रयासों के द्योतक हैं।

नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान की दृष्टि से उपासक श्रेणी भी महासभा का एक विशिष्ट उपक्रम है। पर्युषण काल में जहां साधु-साध्वी एवं समणीवृंद नहीं पहुंच पाते वहां उपासक श्रेणी अपनी महत्त्वपूर्ण सेवाएं प्रदान कर आध्यात्मिक विकास का निमित्त बन रही है। वर्ष 2001 में पर्युषण आराधना हेतु बने 25 उपासक केंद्रों की संख्या वर्ष 2005 में बढ़कर 43 हो गई एवं सेवा देने वाले 57 उपासक प्रशिक्षकों की संख्या बढ़कर 86 तक पहुंच गई। इन आंकड़ों से उपासक श्रेणी की उपादेयता निर्विवाद सिद्ध होती है।

सभाओं की सक्रियता, कार्यप्रणाली की पारदर्शिता एवं कार्यों में दक्षता का अंकन कर उन्हें सतत प्रोत्साहित करते रहना महासभा का एक महत्त्वपूर्ण उपक्रम है। वर्ष 2002 के मुंबई मर्यादा महोत्सव से **श्रेष्ठ तेरापंथी सभा पुरस्कार** का प्रारंभ स्व. झूमरमल बच्छावत प्रेरणा पुरस्कार के तहत किया गया। इस पुरस्कार में प्रतीक चिह्न के साथ 1 लाख रुपये की राशि प्रदान की जाती है। इसी तरह वर्ष 2004 के जलगांव मर्यादा महोत्सव से छोटे क्षेत्रों की सभाओं को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से स्व. बस्तीमल सारीबाई छाजेड़ प्रेरणा पुरस्कार के अंतर्गत **विशिष्ट सभा पुरस्कार** का प्रारंभ किया गया है। पुरस्कार के अंतर्गत 31,000 रुपये की राशि मय प्रतीक चिह्न प्रदान की जाती है। इन पुरस्कारों से उनके संचालन, कार्यक्रमों तथा महासभा के साथ संपर्क में भी परिवर्तन परिलक्षित हुए हैं। महासभा ने **सभा प्रोत्साहन परियोजना** के माध्यम से सभाओं की कार्यप्रणाली में निरंतर विकास हेतु प्रोत्साहन का क्रम प्रारंभ किया, जिसके अंतर्गत पिछले दो वर्षों में 31 सभाओं ने लाभ उठाया है।

श्री रिधकरणजी नोरतनमलजी डागा के परिवार द्वारा स्थापित **मनोहरीदेवी डागा समाजसेवा पुरस्कार** का संचालन महासभा द्वारा वर्ष 2002 से प्रारंभ किया गया।

तेरापंथ जनगणना का दुरूह कार्य गत कई दशकों के प्रयासों के बावजूद नहीं हो पा रहा था। महासभा ने एक बार पुनः आत्मविश्वास के साथ राष्ट्रीय स्तर पर तेरापंथी परिवारों की जनगणना का कार्य अपने हाथ में लिया। अब तक भारत के 18 राज्यों तथा नेपाल एवं भूटान में तेरापंथी परिवारों की जनगणना का कार्य पूरा हो चुका है। शेष राज्यों की जनगणना का कार्य गतिशील है। जनगणना से संबंधित पांच निर्देशिकाओं का प्रकाशन एवं सभाओं को उनका निःशुल्क वितरण किया गया।

उपर्युक्त उपलब्धियों के बावजूद कई करणीय कार्य हम नहीं कर पाए। महासभा के क्षेत्रीय कार्यालयों की स्थापना, पदयात्रा सेवा प्रकोष्ठ, समस्या समाधान प्रकोष्ठ का व्यापक स्वरूप जैसे अवशिष्ट कार्य आगामी सत्र में करणीय हैं। जो-कुछ हमसे हुआ, वह पूज्यप्रवर का प्रसाद एवं पूरे धर्मसंघ की शक्ति का प्रतिफल था।

समय ठहरता नहीं है, उसके साथ कदम से कदम मिलाकर चलने वाला गतिशील रहता है एवं चुनौतियों के बावजूद सफलता उसे ही मिलती है। जागरूकतापूर्ण गतिशीलता हमारा पथ प्रशस्त करती गई और हम गुरु-कृपा से मंजिल की ओर बढ़ते गए।

इस यात्रा में मेरे सतत सहयोगी रहे महामंत्री श्री तरुण सेठिया। समस्त उपाध्यक्षगण, सहमंत्रीद्वय एवं कोषाध्यक्ष आदि पदाधिकारीगणों का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। प्रधान ट्रस्टी श्री रणजीतसिंह कोठारी का सतत मार्गदर्शन एवं पूरे ट्रस्ट बोर्ड की हर कार्य में सहभागिता प्राप्त होती रही। सभी विभागों के संयोजकगण, कार्यकारिणी की पूरी टीम, केंद्रीय संस्थाओं के पदाधिकारीगण एवं इस यात्रा में मील के पत्थर बने समस्त कार्यकर्ताओं तथा समाज के सभी वर्गों के प्रति मेरा हार्दिक आभार। महासभा के शुभ भविष्य के प्रति मंगलकामनाएं। ❖

यतीन्द्र मिश्र की कविताएं

आत्ममंथन का दौर

कितना अजीब होता है
अपने में से
होकर गुजरना,
कितना,
सृजनात्मक!
अपने 'स्वयं' को समझना
उन अज्ञात अन्वेषी क्षणों में
अनेक पथ बनते हैं
कई सीमाएं टूटती हैं
बहुतेरी इच्छाएं
स्वतः ही रंग बदलती हैं
सुख और प्रेम की ऋचाएं
संवाद करती हैं
ऐसी तमाम सजीव-निर्जीव भावनाएं
आपसी संपर्क से
विचारों का जुलूस बनाती हैं
अपने अंदर के
सैद्धांतिक शोर से
उसकी पैरवी करवाती हैं
अनजाने ही
अपने शोध किए हुए अर्थ
अलग-अलग तरीकों से
अलग-अलग व्यक्त होते हैं
भूख, भजन और भोग के छंद
आत्ममंथन के लिए विवश करते हैं
अपने को
खोजने का
या, स्वयं को
रचने का पल
बड़ा ही जटिल होता है
उस समय
समस्त पुराण शास्त्रार्थ करते हैं
गूंजती हैं नानाविध रागिनियां
आस्था श्रद्धावान होती है—
ऐसे में भावों की
परिक्रमा आसान होती है
तब कहीं जाकर
शरीर पंचंपात्र की,
आत्मा आचमनी से
झरते हैं शब्द
स्वयं में डूबते-उतराते
सार्थक होती है, तब
कोई कविता।

प्रश्न और प्रतिप्रश्न

तुम कर्ण हो!
तुमने अपनी निजता से
निष्कलुष,
निष्प्रतीत हो
मुझे अपना कवच-कुंडल
दिया।
मैं इंद्र हूं!
मैंने अपनी क्षुद्रता से
छद्म भाव,
छद्म बोध में
तुम्हारा सर्वस्व लिया।

एक प्रश्न—
किसने किसको दिया?
किसने किससे लिया?

दूसरा प्रतिप्रश्न—
इस कृत्य पर
समाज ने क्या किया?

ईश्वर है

ईश्वर
ऊष्मा है उनके लिए
जिन्हें जाड़ों में सूत तक मयस्सर नहीं

ईश्वर
थाली में परोसी हुई
तृप्ति है
दाल-भात और पानी से भरा गिलास उनका
जिन्होंने भूख को पढ़ा है
महाकाव्य की तरह

ईश्वर
बस एक संभावना है
दिन में, रात में
हर्ष और विषाद में
कुछ भी अप्रत्याशित घटित होने का
सहज आलंबन

ईश्वर है
सही है यह
फिर इतना जटिल क्यों?

❖

जनवरी '06 अंक में श्री कुंवर नारायण के नाम से छपी कविताएं उनकी नहीं, नवीन सागर की हैं, जो दिसंबर '05 अंक में छप चुकी थी। इस भूल के लिए खेद सहित क्षमा याचना। सं.

शीलन

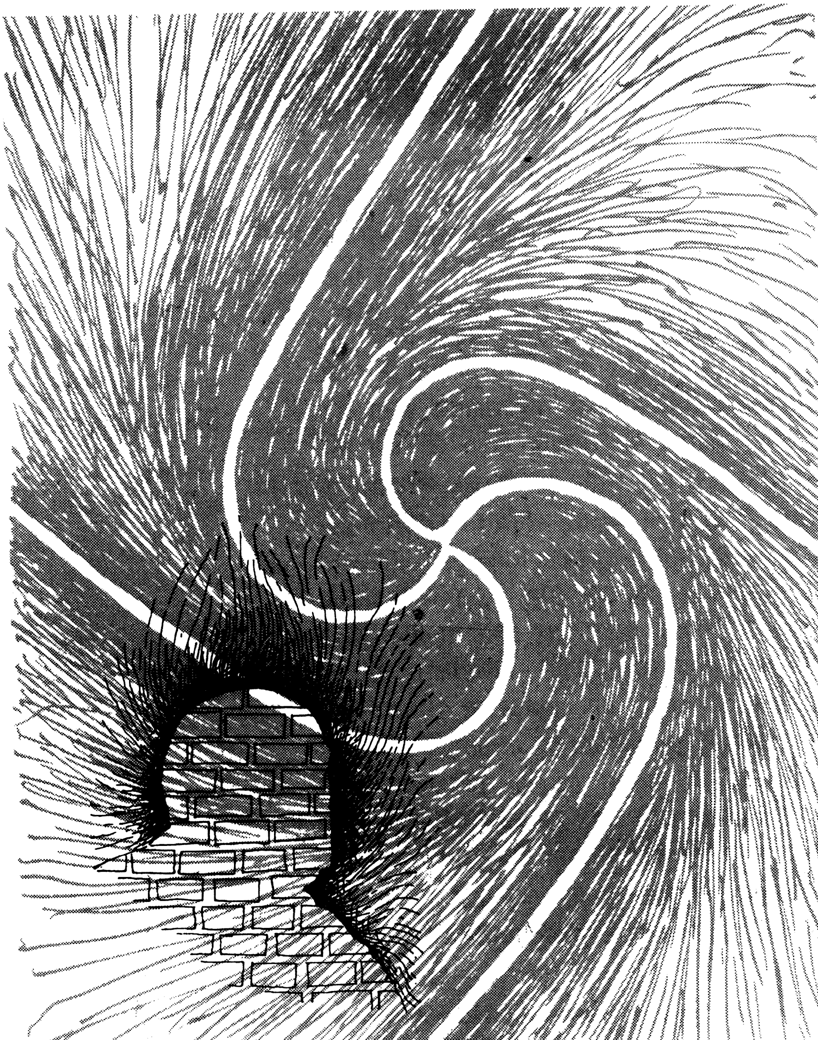

न तो आशा और न अंध-विश्वास का नाम श्रद्धा है। श्रद्धा तो इन दोनों से भिन्न एक तीसरी ही चीज है। वह आत्मा की एक खास स्थिति का नाम है। श्रद्धा मनुष्य के उस आत्म-ज्ञान का नाम है, जिसके अनुसार उसको इस बात का ज्ञान होता है कि संसार में उसको अपनी स्थिति के अनुसार कुछ खास कर्तव्य करना चाहिए। मनुष्य अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुरूप संसार में कार्य करता है।

—लियो टॉल्सटॉय

किन्त्वहं सफलो जातः प्रसीदामि मुहुर्मुहुः

❑ साध्वी ध्रुवरेखा ❑

विश्व की गौरवमयी परंपरा में भारत का नाम सदैव अग्रणी रहा है। इसका कारण भौतिक पदार्थों का विकास नहीं, अपितु आध्यात्मिकता है। यह महावीर व बुद्ध की धरा है। कबीर व रैदास की धरा है। सूर, तुलसी और मीरा की धरती है। परंतु, आज सत्ता की अंधी दौड़ में यह धरा अपनी अस्मिता खोती जा रही है। सत्ता प्राप्ति के लिए हिंसा, आतंक, हत्या जैसे जघन्यतम हथकंडे अपनाए जा रहे हैं। सत्तालोलुपता और अधिकार-प्राप्ति के इस युग में गणाधिपति गुरुदेवश्री तुलसी ने अपने हाथों से अपने उत्तराधिकारी का जहां पदाभिषेक कर, स्वयं पद-विसर्जन किया और अनासक्त चेतना का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है—वह युगों-युगों तक मिसाल बना रहेगा। भिक्षु गीता में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने गणाधिपति गुरुदेवश्री तुलसी के मानसिक चिंतन और प्रसन्नता की जो अभिव्यक्ति दी है, वह आज के युग के लिए एक अविस्मरणीय देन है—

किन्त्वहं सफलो जातः प्रसीदामि मुहुर्मुहुः।
इदानीं चिंतया मुक्तः, कालुं प्रत्युऋणोस्म्यहम्।।

कुशल पारखी नजरों में एक अजब आकर्षण होता है। वे भीतर में छिपी संभावनाओं का अंकन कर लेती हैं। जिस पर उनकी नजरें टिक जाती हैं, वह एक जीवंत भव्य प्रतिमा बन निखर उठता है। प्रसिद्ध कलाकार माइकल एंजिलो एक बार बाजार से निकल रहा था। दूकान के बाहर पड़े पत्थर पर दृष्टि टिकती है। पत्थर मानो पुकार रहा है—एंजिलो को ऐसा एहसास होने लगा। वह दूकानदार के पास पहुंचकर बोला—महाशय! इस पत्थर की क्या कीमत है? दूकानदार ने कहा—भैया! इसकी कीमत यही है कि तुम इसको मेरी दूकान के सामने से हटा लो। यह मेरे ग्राहकों के आने-जाने में बाधक बन रहा है। माइकल पत्थर को अपनी कार्यशाला में ले आया और अपनी कला-साधना में तन्मय हो गया। राह में रोड़ा बनने वाला वही पत्थर एक दिन 'मां मरियम' की अद्भुत प्रतिमा बन निखर उठा। अष्टमाचार्यश्री कालूगणी की पारखी नजरों व गणाधिपति गुरुदेवश्री तुलसी की व्यक्तित्व रूपांतरण की कला की महनीय सौगात है—आचार्यश्री महाप्रज्ञ।

> *'मां के अनवरत अभिसिंचन से दस वर्षीय बालक में वैराग्य का अंकुर प्रस्फुटित हुआ। अपनी वैराग्य भावना को अपनी मां बालूजी के साथ अष्टमाचार्यश्री कालूगणी के श्रीचरणों में प्रस्तुत किया। बालक की निश्छल भावना को आचार्यश्री कालूगणी ने साकार किया। माघ शुक्ला दशमी को सरदारशहर में बालक नत्थू मुनि नथमल बन गया। और यहीं से शुरू हुई विकास यात्रा। आचार्यश्री कालूगणी और मुनि तुलसी की कुशल अनुशासना में समर्पण और विनम्रता से प्रगति और विकास के द्वारों को क्रमशः उद्घाटित करते हुए युगप्रधान गणाधिपति गुरुदेवश्री तुलसी के युग में 'तुलसी-महाप्रज्ञ' अद्वैत बन गए।'*

गुरु की निगाहों में, अजीब तासीर होती है।
महर नजर से निहारें, तो खाक अक्सीर होती है।।

राजस्थान के एक छोटे-से ग्राम टमकोर में जन्म लेने वाला बालक मां बालूजी और पिता तोलारामजी की भावी आशाओं का एकाकी जगमगाता सितारा था। पर क्रूर नियति की छलना। ढाई मास के शिशु से बाप का

साया छीन लिया गया। इस आकस्मिक वज्राघात से यद्यपि मां बालूजी के हृदय पर गहरा आघात लगा, पर बालक के भविष्य को संवारने के लिए अपने सुप्त साहस को जगाया। उस साहसी महिला ने दोहरी जिम्मेदारी निभाते हुए बालक में सत् संस्कारों का बीजारोपण करना प्रारंभ कर दिया—

सत्संस्कारस्य निर्माणं, कठिनं जायते ध्रुवं।
दीर्घकालिक शिक्षाभिः प्रशिक्षाभि प्रजायते।।

मां के अनवरत अभिसिंचन से दस वर्षीय बालक में वैराग्य का अंकुर प्रस्फुटित हुआ। अपनी वैराग्य भावना को अपनी मां बालूजी के साथ अष्टमाचार्यश्री कालूगणी के श्रीचरणों में प्रस्तुत किया। बालक की निश्छल भावना को आचार्यश्री कालूगणी ने साकार किया। माघ शुक्ला दशमी को सरदारशहर में बालक नत्थू मुनि नथमल बन गया। और यहीं से शुरू हुई विकास यात्रा। आचार्यश्री कालूगणी और मुनि तुलसी की कुशल अनुशासना में समर्पण और विनम्रता से प्रगति और विकास के द्वारों को क्रमशः उद्घाटित करते हुए युगप्रधान गणाधिपति गुरुदेवश्री तुलसी के युग में 'तुलसी-महाप्रज्ञ' अद्वैत बन गए।

दार्शनिक सोच, प्रखर चिंतन, कुशल लेखनी, वक्तव्य की वेधकता, योग की गहराई, मनन की मीमांसा आदि, आपके जीवन-गुणसुमनों की सौरभ दिग्दिगंत में फैलने लगी। मानव-मन को यह सौरभ आज प्रफुल्लित कर रही है।

दार्शनिक सोच

चिंतन की गहराइयों से उत्पन्न सत्य प्राप्ति के आनंद ने आपको इस युग के महान दार्शनिक के रूप में नवाजा है। दिगंबर आम्नाय ख्यातिनामा एलाचार्यश्री विद्यानंद के शब्दों में—मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ) इस समय भारत में ही नहीं, अपितु संपूर्ण विश्व के शीर्षस्थ दार्शनिकों में से हैं। मैं उन्हें जैन न्याय के क्षेत्र में 'राधाकृष्णन्' मानता हूं।

प्रखर चिंतक

आपकी चिंतनधारा किसी एक क्षेत्र के तटबंध से बंधी हुई नहीं है। सागर की तरह गहराई लिए सर्वग्राही है। हर क्षेत्र में आपके विचार प्रस्फुटित हुए हैं। फिर चाहे जैनदर्शन हो या विज्ञान। कोई भी विषय आपके चिंतन से अछूता नहीं है। इसीलिए राष्ट्रकवि रामधारीसिंह 'दिनकर' ने कहा—आचार्य महाप्रज्ञ दूसरे 'विवेकानंद' हैं।

कुशल लेखक

आपके चिंतन की मौलिकता और सधी हुई लेखनी ने साहित्य धरोहर को समृद्ध बनाया है। हर विधा, हर क्षेत्र में आपकी लेखनी अजस्र रूप में अनवरत चलती रहती है। आगम संपादन जैसे दुरूह कार्य से लेकर कथा जैसी कोई विधा अछूती नहीं रही है। या यों कहें, आपके चिंतन से उपजा हर शब्द, हर कथ्य, हर तथ्य अपने-आप में साहित्य बन जाता है। सैकड़ों पुस्तकों का प्रकाशन इसका स्वयंभू प्रमाण है। हर सृजन का विश्राम नए सृजन का जनक है।

वक्तव्य की वेधकता

आपके कंठ में सरस्वती का वास है। तभी तो हर विषय का प्रतिपादन इतने सहज, सरल और प्रभावी ढंग से होता है कि जन-साधारण से लेकर विद्वत्जन-भोग्य बन जाता है। इसका पुष्ट प्रमाण है—संस्कार चैनल। संस्कार चैनल में प्रसारित होने वाले प्रवचन से किस प्रकार जन-साधारण से लेकर जैन-अजैन सभी लाभान्वित हो रहे हैं। अनेक संभ्रांत बुद्धिजीवी लोगों के लिए सुनना अनिवार्य अंग बन गया है। क्योंकि प्रवचन से मिलता है उनको अपनी-अपनी समस्याओं का सटीक समाधान।

योग की गहराई

साधना आपके जीवन का अभिन्न अंग है। 7-8 घंटों तक ध्यान की गहराई में उतरकर आपने अपने तन और मन, दोनों को साधा है। आगमिक साधना पद्धति के विविध प्रयोगों के द्वारा ध्यान और योग की साधना कर जिस अमूल्य निधि को प्राप्त किया है, उसकी निष्पत्ति है—प्रेक्षा-ध्यान पद्धति। जो आज के तनाव, कुंठा और अवसाद से मूर्च्छित मानव-चेतना को जीवंतता प्रदान करने वाली संजीवनी बूटी है।

मनन की मीमांसा

आपके साहित्य की मौलिकता और गहराई का अहम पहलू है मनन। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के ही शब्दों में—एक घंटा अध्ययन करो और तीन घंटा उस पर मनन करो, तो कोई भी विषय जटिल नहीं रहेगा। श्रमण महावीर, महावीर का अर्थशास्त्र, महावीर का स्वास्थ्यशास्त्र आदि ऐसे अनेक ग्रंथ हैं, जिनको पढ़ने से लगता है कि महावीर युग का आज की वैज्ञानिकता के साथ समन्वय स्थापित कर आज की पीढ़ी के लिए एक

शेष पृष्ठ 56 पर

मर्यादा : जीवन-निर्माण का राजपथ

❑ मुनि रमेशकुमार ❑

मर्यादा जीवन का एक सुरक्षा कवच है। जिस तरह ओजोन की छतरी से पृथ्वी के सब प्राणी सुरक्षित रहते हैं, ठीक वैसे ही मर्यादा रूपी कवच से जीवन पूर्णतया सुरक्षित रहता है। मर्यादा वह अभेद्य किला है जहां हिंसा, आतंक, अनुशासनहीनता रूपी पराबैंगनी किरणें प्रवेश नहीं कर सकतीं। उन घातक किरणों से बचकर ही व्यक्ति, समाज व राष्ट्र आनंदानुभूति कर सकता है। इसलिए मर्यादा व आत्मानुशासन जीवन-निर्माण का राजपथ है।

मर्यादा, अनुशासन व स्वतंत्रता परस्पर एक-दूसरे के पूरक शब्द हैं। मर्यादित जीवन परतंत्र नहीं, बल्कि स्वतंत्र होता है। स्वतंत्रता का अर्थ स्वेच्छाचारिता कभी नहीं हो सकता और न ऐसा समझा जा सकता है। यदि कोई स्वेच्छाचारिता को स्वतंत्रता मानता है तो यह उसकी अधूरी समझ ही मानी जा सकती है। स्व+तंत्र = स्वतंत्र। स्व यानी अपना और तंत्र यानी व्यवस्था, अर्थात् अपनी व्यवस्था, यानी आत्मनियंत्रण। आत्मनियंत्रण ही आत्मानुशासन है। जिसके जीवन में नियंत्रण नहीं होता, जिसे स्वयं की सीमाओं का सम्यक् बोध नहीं होता, ऐसे व्यक्तियों के द्वारा ही शब्दों के सही रूपों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया जाता है।

> *‘मर्यादा व आत्मानुशासन जीवन-निर्माण का राजपथ है।*
>
> *मर्यादा, अनुशासन व स्वतंत्रता परस्पर एक-दूसरे के पूरक शब्द हैं। मर्यादित जीवन परतंत्र नहीं, बल्कि स्वतंत्र होता है। स्वतंत्रता का अर्थ स्वेच्छाचारिता कभी नहीं हो सकता और न ऐसा समझा जा सकता है। यदि कोई स्वेच्छाचारिता को स्वतंत्रता मानता है तो यह उसकी अधूरी समझ ही मानी जा सकती है। स्व+तंत्र = स्वतंत्र। स्व यानी अपना और तंत्र यानी व्यवस्था, अर्थात् अपनी व्यवस्था, यानी आत्मनियंत्रण। आत्मनियंत्रण ही आत्मानुशासन है।’*

मर्यादित जीवन से विकासक्रम कैसे गतिशील होता है, यह हम अपने शरीर की संरचना के माध्यम से बहुत ही सहजता के साथ महसूस कर सकते हैं। हमारा शरीर 600 खरब कोशिकाओं का एक समवाय है। प्रत्येक कोशिका का स्वतंत्र अस्तित्व है। कोशिकाओं का मुख्य कार्य ऊर्जा का उत्पादन करना, नई कोशिकाओं का निर्माण करना, अपने-अपने अवयवों को सुरक्षित रखते हुए कार्य करना होता है। 600 खरब कोशिकाओं का नियंत्रण एक मस्तिष्क के द्वारा ही होता है। एक के अनुशासन में रहकर ही वे शरीर को स्वस्थ बनाए रखने में सक्षम होती हैं। जहां वे अनुशासन भंग करती हैं, या अपनी इच्छा से नई कोशिकाओं का निर्माण करने की कोशिश होती है, वहीं अनुशासनहीन निर्माण के फलस्वरूप शरीर में गांठें बन जाती हैं। वे गांठें ही आगे चलकर कैंसर जैसी घातक बीमारी बन सकती हैं। व्यक्ति के जीवन को वे समाप्त भी कर देती हैं। जैसे शरीर की कोशिकाओं का नियंत्रण मस्तिष्क के द्वारा होता है, वैसे ही पूरे शरीर का नियंत्रण भी मस्तिष्क ही करता है। मस्तिष्क के अनुशासन में रहकर ही शरीर स्वस्थ व तंदुरुस्त बना रह सकता है। ठीक इसी तरह एक व्यक्ति के अनुशासन में रहकर ही हम विकास के सोपान पर आरोहण कर

सकते हैं। समाज व राष्ट्र का बल भी तभी सुदृढ़ हो सकता है और तभी वर्तमान में व्याप्त अनुशासनहीनता के तांडव पर नियंत्रण संभव हो सकता है।

मर्यादा व अनुशासन की चर्चा वर्तमान हालातों में बहुत ही प्रासंगिक है। हड़तालें, बंद, हिंसा और आतंक आदि के प्रदर्शन आए दिन देखने, सुनने व पढ़ने को मिलते हैं। अनियंत्रित व अमर्यादित जीवन की ये प्रवृत्तियां सुंदर व सुरम्य जीवन को नीरस बना देती हैं। यह अनुशासनहीनता का ही परिणाम है।

पदलिप्सा, अहं व महत्त्वाकांक्षा के कारण आज राजनेता व राजनीतिक पार्टियां किसी-न-किसी प्रसंग पर अनुशासनहीनता का परिचय देते रहते हैं। ऐसा क्यों होता है? जब अक्षम व्यक्तियों के हाथों में सत्ता की बागडोर आ जाती है तो वह खतरनाक ही होती है। किसी भी देश, राज्य व संगठन के लिए यह दुर्भाग्य की बात होती है। इसी संदर्भ में एक तमिल कवि मन्सरै मरुदनार ने कहा हैं—'यदि किसी मनुष्य के पास अपार धन-संपत्ति हो, पर संयम व मर्यादा न हो तो ऐसे व्यक्ति के हाथ में कोई अधिकार देना बंदर के हाथ में मशाल देने के बराबर है। मशाल न तो बुझे और न दूसरों को जलाए—यह तभी हो सकता है जब वह योग्य व्यक्ति के हाथ में हो।' योग्य व्यक्ति की अनेक कसौटियों में मर्यादित जीवन भी एक प्रमुख कसौटी है।

भारतीय संस्कृति के आदर्श भगवान महावीर ने अपनी संघ व्यवस्था में मर्यादा व संयम को सर्वोच्च स्थान दिया। साधु-साध्वियों के लिए अनेक प्रकार के नियम-उपनियम बनाए। प्रमादवश या अज्ञानता में उन सीमाओं का यदि अतिक्रमण हो जाए, तो उसके लिए प्रायश्चित्त के स्वरूप का भी निर्धारण किया। जो आज भी आगम सूत्रों में उपलब्ध है। आचारयोग, दशवैकालियं, पिंडनिर्युक्ति, मूलाचार आदि में जैन मुनि की जीवन-चर्या का स्वरूप मिलता है। अनेक प्रभावशाली जैनाचार्यों ने भी अपने जीवन के अनुभवों से इस क्रम को आगे बढ़ाया है। इनका मुख्य उद्देश्य यही रहा है कि निर्दोष साधना करते हुए जैन धर्म को प्रभावशाली बनाए रखा जा सके।

जैन शासन में मर्यादा पट्टकों की भी एक प्राचीन परंपरा रही है। अपने गच्छ व संप्रदाय की समाचारी संबंधी छोटी-छोटी रचनाएं प्राचीनकाल में लिखी जाती रही हैं। तेरहवीं शताब्दी के कुछ ऐसे पत्र मिलते हैं जो जिनपति सूरि, जिनप्रभ सूरि द्वारा लिखे गए थे। 15वीं शताब्दी के तपागच्छीय सोमसुंदर सूरि ने 'संविज्ञ साधु योग कुलक' बनाया जिसका गुजराती भाषा में अनुवाद प्रकाशित हुआ। 16वीं शताब्दी के आनंद विमल सूरि का मर्यादा पट्टक 'जैन सत्य प्रकाश' में छपा हुआ है। 17वीं शताब्दी के हीरविजयजी के बोल भी पढ़ने को मिलते हैं। 'साधु मर्यादा पट्टक' पुस्तक, जो भावनगर से प्रकाशित है, में अनेक जैनाचार्यों के इसी विषय से संबंधित विचार प्रकाशित हुए हैं।

लोकाशाह व स्थानकवासी संप्रदाय में भी मर्यादा पट्टक मिलते हैं। इनमें से कुछ प्रकाशित व कुछ अप्रकाशित रूप में जैन साहित्य भंडारों में सुरक्षित हैं। इससे यह स्वतः ज्ञात होता है कि यह प्राचीन परंपरा जैन शासन को तेजस्वी बनाने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। सभी ग्रंथ एक महान परंपरा का स्मरण कराते हैं।

तेरापंथ धर्मसंघ के आद्य प्रणेता, क्रांतद्रष्टा आचार्यश्री भिक्षु ने तत्कालीन साधु समाज की स्थिति का समग्रता से अवलोकन किया। उन्होंने आगमों का भी तलस्पर्शी अध्ययन किया। व्यापक चिंतन-मनन के पश्चात् उन्होंने आचार-विचार व व्यवहार संबंधी मर्यादाओं का निर्माण किया। आपने केवल मर्यादाओं का निर्माण ही नहीं किया, बल्कि अपने धर्मसंघ में उन्हें क्रियान्वित भी किया। स्वयं अनुशासन में रहना व अन्यों को रखना—दोनों में ही आप निपुण थे। तेरापंथ धर्मसंघ के बाह्य व आंतरिक सुदृढ़ अनुशासन के कारण ही यह संघ अपनी अलग पहचान रखता है।

आचार्य भिक्षु ने प्रथम मर्यादा पत्र विक्रम संवत् 1832 में लिखा। उसके पश्चात् समय-समय पर आवश्यकतानुसार मर्यादाओं के निर्माण का क्रम चलता रहा। विक्रम संवत् 1859 माघ शुक्ला सप्तमी के दिन अंतिम मर्यादा पत्र लिखा गया। संगठन शक्तिशाली व प्राणवान बना रहे, इसके लिए आपने तेरापंथ के संविधान की धाराओं को इस तरह लागू किया कि सर्व साधु-साध्वी एक आचार्य की आज्ञा में रहें। विहार, चातुर्मास आदि सभी कार्य आचार्य की आज्ञा से करें। अपने-अपने शिष्य न बनाएं। आचार्य भी योग्य व्यक्ति को ही दीक्षित करें। दीक्षा लेने के पश्चात् कोई अयोग्य निकल जाए तो उसे

संघ से अलग कर दें। आचार्य अपने जिस शिष्य या गुरुभाई को उत्तराधिकारी बनाए, उसे सब साधु-साध्वियां सहर्ष स्वीकार करें। तेरापंथ संगठन की ये प्रमुख धाराएं हैं, जो संघ का आधार हैं। इनसे ही गति-प्रगति है, प्रतिष्ठा है।

आचार्य भिक्षु ने जब प्रथम मर्यादा पत्र लिखा तब अपने सभी सहयोगी संतों को उसे दिखाया। उन्होंने उस मर्यादा पत्र पर हस्ताक्षर करने से पूर्व स्पष्ट कहा कि यदि आप लोगों को साधना करनी है, मेरे साथ रहना है तो इन मर्यादाओं का पालन भी करना होगा। श्रद्धा, समर्पण व आत्मसाक्षी से इनके अनुसार चलना होगा। उनका स्पष्ट कहना था कि इसके लिए आपके ऊपर कोई दबाव नहीं है। ये मर्यादाएं साधना के साथ-साथ न्याय, संविभाग व समभाव की वृद्धि के लिए बनाई हैं। आचार्य भिक्षु के इन विचारों को सुनकर तेरह में से सात साधु अलग हो गए। शेष रहे छह संतों में ये मर्यादाएं लागू की गई। इन मर्यादाओं का आज लगभग सात सौ से अधिक साधु-साध्वियों के द्वारा सहर्ष पालन हो रहा है। संघ विकास में ये मर्यादाएं छत्र की तरह सुरक्षा कवच हैं। संघ के लिए त्राण एवं प्राण हैं।

तेरापंथ के भाग्यविधाता, चतुर्थ अधिशास्ता जयाचार्यश्री ने इस धर्मसंघ को सुव्यवस्थित करके नया स्वरूप प्रदान किया। जयाचार्यश्री द्वारा प्रदत्त व्यवस्थाएं तेरापंथ धर्मसंघ में आज वरदान जैसा कार्य कर रही हैं। एक तरह से आपने लोकतंत्र व समाजवाद, दोनों तरह की व्यवस्थाओं का समन्वय किया। आज इस धर्मसंघ में दोनों तरह की व्यवस्थाओं के साक्षात् दर्शन हो रहे हैं। आचार्य भिक्षु द्वारा लिखित अंतिम मर्यादा पत्र को आधार बनाकर 'मर्यादा महोत्सव' मनाने का श्रीगणेश भी आपने ही किया। प्रतिवर्ष माघ शुक्ला सप्तमी के दिन आयोजित होने वाला यह मर्यादा महोत्सव अपने-आप में एक विलक्षण महोत्सव है। तेरापंथ धर्मसंघ का यह आध्यात्मिक-सांस्कृतिक महोत्सव है। इस महोत्सव से तेरापंथ के संस्कार व संस्कृति का परिचय मिलता है। भारत में यही एक धार्मिक संगठन है जो अपनी मर्यादाओं के उपलक्ष्य में महोत्सव का आयोजन करता है। मर्यादा महोत्सव के समय पदासीन आचार्य पूरे धर्मसंघ की सारणा-वारणा करते हैं। साथ ही भविष्य के लिए मार्गदर्शन भी प्रदान किया जाता है।

मर्यादा महोत्सव के पावन अवसर पर एक मुख्य आकर्षण होता है, आगामी वर्ष के लिए चातुर्मास व सेवा-केन्द्रों के लिए चाकरी की घोषणा। किसी को भी यह मालूम नहीं होता कि मेरा आगामी चातुर्मास कहां होगा। कोलकाता, मुंबई, चेन्नई, बैंगलोर आदि दूरस्थ क्षेत्रों में भी आचार्य अपने शिष्य-शिष्याओं को प्रचार-प्रसार व संघ की देखभाल के लिए भेजते हैं। हजारों श्रावक-श्राविकाएं अपने-अपने क्षेत्रों में चातुर्मास की सभक्ति अर्ज भी श्रीचरणों में प्रस्तुत करते हैं, लेकिन घोषणा से ही पता चलता है कि आगामी चातुर्मास में कौन कहां रहेगा।

संघीय विकास के लिए परिवर्तन व नवनिर्माण भी बहुत अपेक्षित होता है। यही समय होता है जब आचार्यवर व उनके उत्तराधिकारी युवाचार्य, संघ के स्थविर एवं बहुश्रुत संत संघ विकास के लिए अपना मौलिक चिंतन प्रस्तुत करते हैं। देश-काल के अनुसार मर्यादाओं में परिवर्तन व परिवर्धन एवं संशोधन भी किया जाता है। अनुशासन, साधना व अध्ययन-अध्यापन के विभिन्न पक्षों पर भी चिंतन चलता है। सेवा, स्वाध्याय, ध्यान, साहित्य-सृजन के लिए संघ के प्रत्येक सदस्य को प्रेरित करके उसकी सुप्त शक्ति को जाग्रत करने की प्रेरणा भी प्रदान की जाती है।

छह दशकों तक युगप्रधान अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी ने इस धर्मसंघ की केवल सार-संभाल ही नहीं की, बल्कि इसे अंतरराष्ट्रीय स्तर का स्वरूप भी प्रदान किया। आपके अनगिनत अवदानों से यह संघ कभी उऋण नहीं हो सकता। वर्तमान में प्रेक्षा-प्रणेता अध्यात्म योगी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी व युवाचार्यश्री महाश्रमणजी के कुशल व सक्षम नेतृत्व में यह संघ दिन-प्रतिदिन गति-प्रगति के साथ आगे बढ़ रहा है। संघ-विकास में ये मर्यादाएं प्रकाश- स्तंभ के समान इस संघ को आलोकित कर रही हैं।

आज हमारा देश अनुशासनहीनता से पीड़ित है। स्कूल, कॉलेज एवं विश्वविद्यालय आदि शिक्षा संस्थानों में भी अनुशासनहीनता घनघोर रूप में दिखाई देती है। अनुशासन रूपी मंत्र से अराजकता और अव्यवस्था आदि का समाधान किया जा सकता है। तेरापंथ धर्मसंघ के संविधान की धाराओं का यदि शिक्षा व प्रशासन आदि क्षेत्रों में उपयोग किया जाए तो देश को एक नया मार्ग मिल सकता है। ❖

बालकथा

गमले में खिला फूल

❑ आंडाल अनंतनारायणन ❑

राधा को जब से 'फूल उगाओ, इनाम पाओ' प्रतियोगिता का पता चला है, तभी से उसने तय कर लिया है कि वह अब आगे होने वाली प्रतियोगिता में अवश्य ही भाग लेगी।

राधा ने अपनी किताब में पढ़ा था कि बीज को मिट्टी में बोने से पौधा बन जाता है और फिर उस पौधे पर फूल आ जाते हैं। उसने भी एक गमला लिया, उसमें मिट्टी भरी और एक बीज गाड़ दिया। वह गुलमेहंदी का बीज था। किसी को पता न चले, इसलिए उसने गमले को घर के एक कोने में छिपाकर रख दिया। वह रोज सवेरे सबकी आंख बचाकर उसमें पानी भी डालने लगी। वह सुबह-शाम दोनों समय गमले को सम्हालती, पर उसमें उसे कुछ भी उगता हुआ दिखाई न देता तो थोड़ी निराश हो उठती।

एक दिन जब वह पानी डालने लगी तो उसने देखा कि मिट्टी में से एक छोटा-सा, कोमल-सा अंकुर बाहर आ रहा है। तब वह बहुत खुश हुई। वह अंकुर हर रोज धीरे-धीरे बड़ा होने लगा। कुछ दिन बाद उसमें पत्तियां भी निकल आईं। वे पत्तियां पीली-पीली और बीमार-सी थीं, जिन्हें देखकर लग रहा था कि वे जल्दी ही मुरझा जाएंगी। इससे उसका मन इतना दुखी हुआ कि एक बार तो उसकी आंखों में आंसू ही आ गए। वह वहीं बैठी रोने लगी। पहले तो उसके रोने की आवाज धीमी थी, लेकिन फिर वह रुलाई को रोक न सकी और जोर-जोर से रोने लगी। उसकी बड़ी बहन रेखा को उसके रोने की आवाज सुनाई पड़ी तो दौड़ी आई, पूछा—'क्या बात है, राधा? क्यों रो रही हो? कहीं चोट लगी है क्या?'

'एक दिन जब वह पानी डालने लगी तो उसने देखा कि मिट्टी में से एक छोटा-सा, कोमल-सा अंकुर बाहर आ रहा है। तब वह बहुत खुश हुई। वह अंकुर हर रोज धीरे-धीरे बड़ा होने लगा। कुछ दिन बाद उसमें पत्तियां भी निकल आईं। वे पत्तियां पीली-पीली और बीमार-सी थीं, जिन्हें देखकर लग रहा था कि वे जल्दी ही मुरझा जाएंगी। इससे उसका मन इतना दुखी हुआ कि एक बार तो उसकी आंखों में आंसू ही आ गए। वह वहीं बैठी रोने लगी। पहले तो उसके रोने की आवाज धीमी थी, लेकिन फिर वह रुलाई को रोक न सकी और जोर-जोर से रोने लगी। उसकी बड़ी बहन रेखा को उसके रोने की आवाज सुनाई पड़ी तो दौड़ी आई, पूछा—'क्या बात है, राधा? क्यों रो रही हो? कहीं चोट लगी है क्या?'

'नहीं,' उसने इनकार में सिर हिला दिया।

'फिर क्या बात है? तुम रो क्यों रही हो?'

राधा ने उसे अपना पौधा दिखाते हुए सारी बात बता दी।

रेखा ने गमला देखा तो हंस पड़ी। बोली—'बस! तुम इतनी-सी बात पर रो रही हो? शायद, तुम्हें पता नहीं राधा कि पौधे को हवा और पानी के साथ सूर्य के प्रकाश की भी जरूरत होती है। तुमने तो इसे अंधेरे में रख छोड़ा है। तुम्हारा यह

पौधा इसीलिए इतना पीला और कमजोर है। इसे धूप में रखो।'

अब उसकी समझ में बात आ गई कि उसने क्या गलती की है। उसने गमले को उठाकर खिड़की में रख दिया और बोली—'यहां उसे सुबह से शाम तक धूप मिलती रहेगी।'

दो-चार दिन पौधा वहां रखा रहा तो उसका तना और पत्तियां हरी हो गईं। उनमें ताकत आ गई। परंतु, पौधा एक ओर झुक-सा गया। जैसे कि खिड़की के बाहर झांक रहा हो। वह बढ़ भी टेढ़ा ही रहा था।

राधा कई दिन तक उसे देखती रही। उसके कुछ समझ में नहीं आ रहा था। आखिरकार अपनी दीदी को बताया—'पौधा तो सीधा बढ़ ही नहीं रहा है, वह तो टेढ़ा है। मैंने उसे खिड़की में रखा तो भी वह ऐसा क्यों है?' भोली राधा ने बड़ी सहजता से उसके टेढ़े होने का कारण जानना चाहा।

रेखा ने खिड़की के पास आकर देखा और छोटी बहिन के भोलेपन पर थोड़ा हंसी। फिर उसे समझाया—'मैंने तुम्हें उसे धूप में रखने को कहा था न?'

अब राधा ने उस गमले को बाहर आंगन में रख दिया। वह रोज पौधे को पानी देती। चार दिन बीत गए। पौधे की सारी पत्तियां फिर से कुछ बड़ी और हरी हो गईं। कुछ नई पत्तियां भी उग आईं।

अब प्रतियोगिता में केवल दस दिन बचे थे। राधा बहुत चिंतित थी कि पता नहीं पौधे में उस दिन तक फूल आ भी पाएंगे या नहीं? वह सुबह-शाम पौधे को गौर से देखती।

एक शाम को स्कूल से लौटते ही उसने अपने पौधे को देखा तो वह उसे देखती ही रह गई। पौधे की कुछ पत्तियां कुतरी हुई थीं। वह घबराई, यह क्या हुआ? किसने कुतर डाला इन्हें? वह सोच में पड़ गई। अंदर जाकर रेखा को जल्दी से बुला लाई। रेखा ने देखा और फिर सफेद-सा पाउडर उन पत्तियों पर छिड़क दिया। एक छोटी-सी इल्ली एकदम से नीचे टपक पड़ी। राधा ने संतोष की सांस ली। उसे भरोसा हो गया कि अब उसका पौधा बच गया है।

पड़ोसी के माली से भी उसकी अच्छी दोस्ती थी। उसने उससे पूछा कि उसके पौधे में फूल कैसे जल्दी खिल सकते हैं?

माली राधा से बड़ा स्नेह रखता था। वह था भी दयालु। उसने कहा—'राधा बेटी, मैं तुम्हें यह दवाई देता हूं। कहकर माली ने राधा को थोड़ा-सा सफेद पाउडर दिया और कहा—'पानी में घोलकर पौधे पर इसके घोल को छिड़क देना। इसके बाद अपने हाथ साबुन से अच्छी तरह जरूर धो लेना।'

राधा ने वैसा ही किया, जैसा कि माली काका ने बताया था। अब बड़े भरोसे के साथ राधा रोज देखती, पर एक हफ्ते तक कुछ भी नहीं हुआ। उसकी निराशा का ठिकाना न था।

फिर एक सुबह वह खुशी से झूम उठी। उसने देखा, पौधे पर छोटी-छोटी कलियां आ गई हैं। वे अभी बहुत छोटी और हरे रंग की हैं। वह समझ नहीं पा रही थी कि किस रंग का फूल होगा।

कुछ ही दिनों में पौधे पर आई हुई वे कलियां बड़ी हो गईं। अब उन कलियों में से गुलाबी रंग झलकने लगा। प्रतियोगिता का दिन भी अब निकट था। वह अनमनी-सी रहने लगी।

प्रतियोगिता वाले दिन तो राधा बहुत बेचैन थी। पर सुबह उठते ही जब उसने देखा कि फूल पूरी तरह खिल चुके हैं, तो वह खुशी से झूम उठी। काफी-सारे फूल हैं, हल्के गुलाबी रंग के।

फूलों को देखकर वह बहुत खुश थी। उसने जल्दी से नहाकर अपनी सबसे सुंदर फ्राक पहनी और अपना गमला उठाकर प्रतियोगिता स्थल की ओर चल दी। उसकी दीदी रेखा भी उसके साथ थी।

मैदान में बड़ा-सा पंडाल लगा था। कतारों में मेजें लगी थीं। उन मेजों पर सुंदर-सुंदर गमले सजे थे। लोगों ने अपने-अपने फूल और पौधों को और अधिक सुंदर दिखाने के लिए तरह-तरह के सुंदर गमले और रंग-

बिरंगे फूलदान लगाए थे। राधा का गमला तो साधारण मिट्टी का था। परंतु, उसके गुलमेहंदी के हल्के गुलाबी रंग के फूल सबसे सुंदर और बड़े-बड़े, खिले-खिले थे। इतने सुंदर और बड़े फूल वहां किसी और के नहीं थे।

राधा जब अपना गमला उठाए पंडाल के अंदर जा रही थी, तभी लोग उसके सुंदर फूलों को देखकर तारीफ करने लगे थे। इतने बड़े और ऐसे सुंदर रंग वाले गुलमेहंदी के फूल वहां किसी के नहीं थे। राधा ने भी अपना गमला मेज पर रख दिया और एक कागज पर अपना नाम लिखकर गमले पर लगा दिया।

कुछ ही देर में निर्णय होना था कि किस का फूल और पौधा सबसे सुंदर है। यह निर्णय करने के लिए निर्णायकगण सभी गमलों को देखते हुए आ रहे थे। जब वे राधा के गमले के पास आए तो सभी निर्णायकों की नजर राधा के गमले पर गड़ी रह गई।

कुछ ही देर में निर्णायकों ने निर्णय करके सबसे सुंदर फूल उगाने वालों को पुरस्कार देने के लिए नाम बोले। राधा का नाम सबसे पहले बोला गया। राधा के फूल को सबसे सुंदर माना गया। राधा को पहला पुरस्कार मिला। पुरस्कार देते हुए प्रतियोगिता समारोह के अध्यक्ष ने कहा कि ये फूल गुलमेहंदी फूलों में भी सबसे नए रंग के व सबसे सुंदर फूल हैं। कुमारी राधा को इसके लिए प्रथम पुरस्कार दिया जाता है। अध्यक्ष ने घोषणा की कि राधा के ही नाम पर इन फूलों का नाम भी 'राधा' रखा जाता है।

राधा जब पुरस्कार लेने मंच पर आई तो लोगों ने तालियां बजाकर उसका स्वागत किया और उसे बधाइयां दीं।

राधा को मन-ही-मन लगा कि उसे अपनी मेहनत का पुरस्कार मिल गया है।

सच ही कहा है कि 'मेहनत का फल सदा ही मीठा होता है।' ❖

किन्त्वहं सफलो जातः प्रसीदामि मुहुर्मुहुः पृष्ठ 50 का शेष

सशक्त धरातल का निर्माण किया है। आपके जीवन की इन महनीय विशेषताओं के कारण ही आज भारत में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी आपकी उपस्थिति की आवश्यकता अपेक्षणीय बनती जा रही है। इसका ताजातरीन उदाहरण है—संयुक्त राष्ट्र संघ के सूचना केंद्र के निदेशक श्री फियोडार सेविक का निवेदन—आपको संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्यालय (न्यूयार्क) के मंच से पूरे विश्व को संबोधित करना चाहिए।

सांप्रदायिक वैमनस्य, आतंकवाद, हत्या, आपसी वैमनस्य पीड़ित मानव के लिए आपकी ऋतंभरा प्रज्ञा ने 'अहिंसा यात्रा' का एक ऐसा समाधान खोजा है जिसके द्वारा पांव-पांव चल कर गांवों, नगरों, शहरों में पहुंचकर जन-जन के अंदर शांति, सौहार्द और सद्भावना की प्रेरणा भर रहे हैं। अहिंसा यात्रा की ही महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है कि गुजरात में फैली हिंसा और अराजकता को सभी कौमों के अग्रणी लोगों से वार्तालाप कर वहां सौहार्द और शांति का वातावरण बनाया। जिसके कारण ही रथयात्रा निर्विघ्न रूप से निकल सकी। मुंबई में भी आपकी अहिंसा यात्रा की भारत के सर्वोच्च व्यक्ति महामहिम राष्ट्रपति से लेकर अनेक गणमान्य और शीर्षस्थ व्यक्तियों ने उपयोगिता स्वीकारी।

ऐसे कालजयी पुरुष का जीवन स्तुत्य है, वंदनीय है, अभिनंदनीय है। आपका हर क्षण, हर दिन, हर वर्ष मंगलमय हो। युगों-युगों तक आपका सुखद सान्निध्य मिलता रहे और जन-जन अपने जीवन को नव-उमंगों से सजाते रहें। ❖

हमें अपने मस्तिष्क में तथा लोगों के मस्तिष्क में यह बात बिलकुल स्पष्ट कर देनी चाहिए कि संप्रदाय के रूप में धर्म और राजनीति का गठबंधन सबसे ज्यादा खतरनाक गठबंधन है।

—जवाहरलाल नेहरू

With best compliments from :

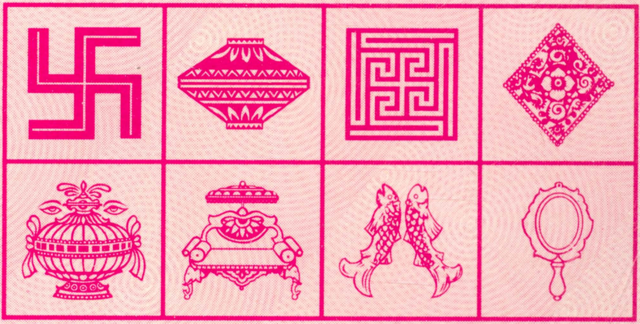

HEMRAJ SAMSUKHA

Vineet Texfab Ltd.

101, Mamulpet, Bangalore 560053

Phone : (O) 22872355, 22253276, (R) 25534815

ACHARYA SRI KAILASSAGARSURI GYANMANDIR
SRI MAHAVIR JAIN ARADHANA KENDRA
Koba, Gandhinagar-382 009.
Phone : (079) 23276252, 23276204-0

जैन भारती, फरवरी, 2006 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/00/06-08
'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

Your Partner in Progress

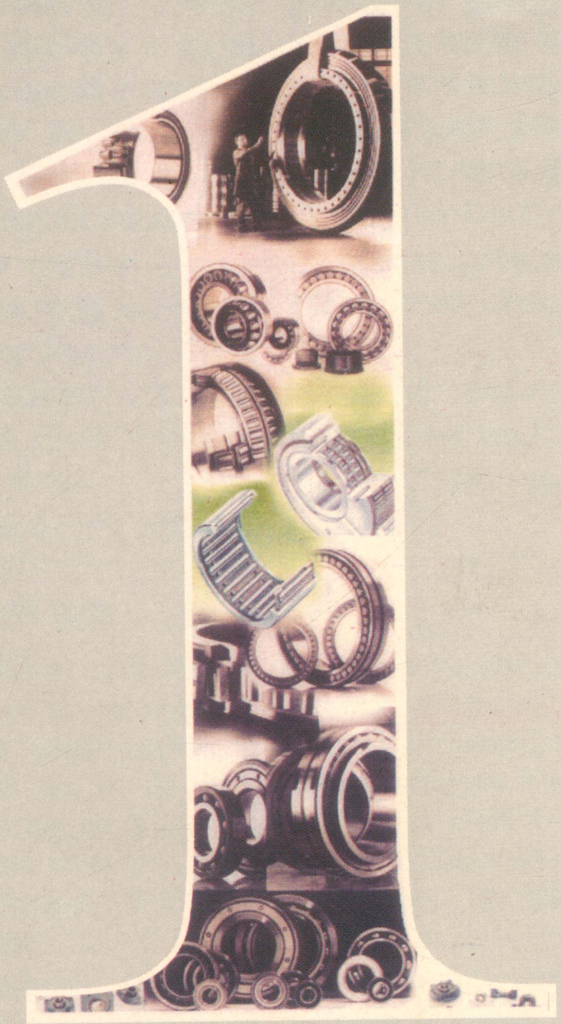

India's No. 1 Company for Bearing Distribution and Shaft solution

INA Authorised Distributor

Premier (India) Bearings Ltd.

407 & 413 Marshall House, 4th Floor, 25, Strand Road, Kolkata - 700001
Phone : 2220 0640/1926, Fax : (033) 2248 5745
E-mail : pibl@vsnl.com

FAG Star Distributor

Our Branches Office : • Chennai • Mumbai • Chandigarh • Gurgaon • Kochi • Ludhiana

Website : http://www.mahadealer.com

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।